Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

NAGRI PRACHARNI PATRIKA

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

PR
८०
का १५ ना
भाग - १६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Vishwavidyalaya

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पुस्तकालय

विषय संख्या
पुस्तक संख्या
आगत पंजिका संख्या

पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना वर्जित है। कृपया १५ दिन से अधिक समय तक पुस्तक अपने पास न रखें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

NOT TO BE ISSUED

REFERENCE BOOK

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2-28

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

CM.K.L.O 1973

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी, त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग १६ — अंक [illegible]

संपादक

श्यामसुंदरदास

—:※:—

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

वैशाख संवत् १९९२] [मूल्य प्रति संख्या २॥) रुपए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

विषय पृष्ठ

१—सम्राट् 'अशोक' अथवा 'संप्रति' [लेखक—श्री सूर्यनारायण व्यास, उज्जैन] १

२—जंबूद्वीप का धर्म, इतिहास तथा भूगोल [लेखक—डाक्टर प्राणनाथ, डी० एस्-सी०, काशी] ६७

काशी नागरीप्रचारिणी सभा की प्रकाशित पुस्तकें

मनोरंजन-पुस्तकमाला

आदर्श जीवन	१।)	कर्तव्य-शास्त्र	१।)
आत्मोद्धार	१।)	मुसलमानी राज्य का इतिहास,	
गुरु गोविंदसिंह	१।)	भाग १-२	२॥)
आदर्श हिंदू, भाग १-३	३॥)	रणजीतसिंह	१।)
राणा जंगबहादुर	१।)	विश्वप्रपंच, भाग १-२	२॥)
भीष्म पितामह	१।)	अहिल्याबाई	१।)
लालचीन	१।)	रामचंद्रिका	१।)
कबीर-वचनावली	१।)	ऐतिहासिक कहानियाँ	१।)
महादेव गोविंद रानडे	१।)	हिंदी-निबंधमाला,	
बुद्धदेव	१।)	भाग १-२	२॥)
मितव्यय	१।)	सूर-सुधा	१।)
वीरमणि	१।)	कर्तव्य	१।)
नेपोलियन बोनापार्ट	१।)	संक्षिप्त राम-स्वयंवर	१।)
शासन-पद्धति	१।)	शिशुपालन	१।)
महर्षि सुकरात	१।)	शाही दृश्य	१।)
ज्योतिर्विनोद	१।)	पुरुषार्थ	१।)
आत्म-शिक्षण	१।)	तर्कशास्त्र, भाग १-३	३॥)
सुंदरसार	१।)	प्राचीन आर्य वीरता	१।)
जर्मनी का विकास, भाग १-२	२॥)	रोम का इतिहास	१।)
कृषि-कौमुदी	१।)	रसखान और घनानंद	१।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

110772
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
110772
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१

२

३

४

५

६

१—वीर कुणाल २—महाराजा अशोक ३—सम्प्रति ४—श्री कांचनमाला देवी ५—श्री पद्मावती देवी ६—सम्प्रति च्यवन काल

[इस चित्र में सम्प्रति की माता को स्वप्न में गज-दर्शन होना बतलाया है। नं० ३ का चित्र सम्राट् सम्प्रति का है। ऊपर चित्र नं० १ में सम्प्रति के पिता कुणाल हैं, और नं० २ में पितामह अशोक, नं० ४ में सम्प्रति की माता कांचनमाला, और नं० ५ में पितामही पद्मावतीदेवी हैं।]

[गवर्नमेंट ऑफ इंडिया के कलकत्तावाले ऑफिस से प्रकाशित भरहुत स्तूप के अॅल्बम् में इन चित्रों को मायादेवी के स्वप्न-स्वरूप में बतलाया है। किंतु डॉ० शाह के मतानुसार सम्प्रति के चिह्नों में हस्ति का चित्र अधिक महत्त्व का है, और महावीर स्वामी के कैवल्यधाम-मध्यम-अपापा (भरहुत) के साथ अधिक संबंध है।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

सोलहवाँ भाग

(१) सम्राट् 'अशोक' अथवा 'संप्रति'

[लेखक—श्री सूर्यनारायण व्यास, उज्जैन]

ग्रीक सम्राट् महान् सिकंदर के भारत पर किए गए आक्रमण से पूर्व जो जो घटनाएँ भारत में घटित हुई हैं उनको शृंखलाबद्ध करने के लिये अनेक प्रकार के प्रयत्न किए जाने पर भी अभी तक कोई पुरातत्त्ववेत्ता—वह चाहे पौर्वात्य हो या पाश्चात्य—किसी निश्चित और सत्यपूर्ण सिद्धांत पर नहीं पहुँच सका। इतना ही नहीं, वरन् यह भी ज्ञात होता है कि जब कोई शंकास्पद प्रश्न उपस्थित होता है और उलटे या सीधे प्रमाण द्वारा अथवा स्वेच्छा-पूर्वक अनुमान किए जाने पर भी उसका सिलसिला नहीं जमता तब अपनी कार्य-पद्धति अथवा अनुमान की मूलभित्ति को दोषपूर्ण मानना पड़ता है। किंतु निष्पक्ष रूप से इस बात को न मानते हुए अधिकांश लेखक यह सिद्ध करने को उद्यत हो जाते हैं कि भारत के पुराकालीन धर्मग्रंथों में लिखित बातें भले ही परस्पर मिल जाती हों, पर वे सब क्षेपक या काल्पनिक अथवा दंतकथा मात्र हैं। यही कारण है कि वे, अविश्वसनीय होने के कारण, ऐतिहासिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धांत निश्चित करने में सहायक नहीं हो सकतीं। इससे यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनकी कार्यपद्धति में सुधार के लिये स्थान अवश्य है। जिस मुख्य घटना पर से समग्र इतिहास की रचना की गई है, और जो उपर्युक्त कथनानुसार किसी अंश में शंकास्पद है, वह ईसवी सन् से ३२७ वर्ष पूर्व की है, जब कि ग्रीक सम्राट् महान् सिकंदर ने भारत पर आक्रमण किया और सिंधु नदी के तट पर डेरा डाला था। उस समय मौर्यवंशी एक नवयुवक राजा या राजकुमार उससे मिला था, जिसका नाम—तत्कालीन मौर्य सम्राट् की राजधानी पाटलीपुत्र में रहनेवाले ग्रीक एलची मि० मेगेस्थिनीज की डायरी में लिखी हुई अस्त-व्यस्त सामग्री के अनुसार—"सेंड्रेकोट्स" था। किंतु उसे ग्रीक इतिहासवेत्ता मि० जस्टिन और स्ट्रेबो ने बिना किसी आधार या प्रमाण के ही चंद्रगुप्त सिद्ध कर दिया था। इस घटना के समय के विषय में, जो ई० पू० ३२७ बताया गया है, तो शंका के लिये कोई स्थान ही नहीं हो सकता, क्योंकि इसकी यथार्थता के अनेक प्रमाण मिल सकते हैं; किंतु सेंड्रेकोट्स को चंद्रगुप्त मानने में शंका होती है।

अभी तक अधिकांश ही नहीं, लगभग समस्त पुरातत्त्ववेत्ताओं का इस बात पर विश्वास है कि जो बौद्धकालीन शिलालेख समस्त भारत में पाए जाते हैं उनका लेखक सम्राट् अशोक ही है, किंतु हम इस निबंध द्वारा डॉ० त्रिभुवनदास शाह का वह मत बतलाना चाहते हैं जिसमें उन्होंने अनेक प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सम्राट् अशोक के नाम पर जो शिलालेख आदि माने जाते हैं, वे सभी सम्राट् संप्रति के हैं। उन्होंने इस प्रकार युक्तियों और प्रमाणों से एक नई समस्या उपस्थित कर दी है, जिस पर संशोधक विद्वानों का ध्यान जाना आवश्यक है। वे कहते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"यद्यपि आधुनिक शिक्षापद्धति के अनुसार तो हमारे हृदय में यह बात दृढ़ रूप से घर कर चुकी है कि सेंड्रेकोट्स ही चंद्रगुप्त है और वही सिकंदर से मिला था। इस विचार का खंडन करने के लिये उतने ही पुष्ट प्रमाण की आवश्यकता है। इसके लिये हमें तीन बातों का विचार करना होगा, प्रथम बौद्ध संवत् का निर्णय करना, दूसरे मौर्य राज्य की वंशावली निर्माण करना तथा तीसरे समस्त शिलालेखों एवं स्तंभलेखों में उत्कीर्ण वर्णन की समालोचना एवं विवेचन को उपस्थित करना।

बौद्ध संवत्

इस संवत् के निर्णय करने के लिये हमें ई० सन् से ३२७ वर्ष पूर्व को मध्यबिंदु मानकर वहाँ से पीछे हटने का क्रम छोड़ना पड़ेगा; क्योंकि इन दोनों समयों के बीच का अंतर अनेक शंकाओं, दुर्घटनाओं एवं भूलों, त्रुटियों और विच्छिन्नताओं से भरा हुआ है। अतएव उसके बदले उन्हीं दिनों दूसरे जो दो धर्म प्रचलित थे उनमें से (अर्थात् ब्राह्मण धर्म या जैन धर्म में से) एक जैन धर्म की जो घटना सिद्ध हो चुकी है उसी को मध्यबिंदु-स्वरूप मानकर आगे बढ़ना समुचित होगा। मेरे कथन का लक्ष्य जैन धर्म के अंतिम तीर्थंकर भगवान् श्री महावीर का निर्वाण-काल है।

महावीर का निर्वाण (मोक्षप्राप्ति—जिस प्रकार दक्षिण भारत के बौद्ध ग्रंथों में ज्ञानप्राप्ति को निर्वाण कहा गया है उस अर्थ में नहीं) ई० सन् से ५२६ वर्ष पूर्व हुआ है। यहाँ यह बतला

---

(१) [अ] देखिए हेमचंद्र सूरि का परिशिष्ट पूर्व। [ब] (सेक्रेड) बुक्स ऑफ दि ईस्ट नामक ग्रंथमाला का बाईसवाँ ग्रंथ, प्रो० जेकोबी साहब की टिप्पणी, जिसमें वे लिखते हैं कि श्वेतांबर और दिगंबर जैन संप्रदाय के दोनों विभागवाले महावीर स्वामी के निर्वाणकाल (ई० सन् से ५२६ वर्ष पूर्व) के विषय में एकमत हैं। [क] मिसेस स्टीवन्सन्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देना आवश्यक जान पड़ता है कि जिन विद्वानों को यह वर्ष स्वीकार नहीं है, उन्होंने अपनी वर्ष-गणना का क्रम सेंड्रेकोट्स को चंद्रगुप्त मानकर उसी चंद्रगुप्त के बादशाह सिकंदर से उसकी छावनी में जाकर ई० सन् से ३२७ वर्ष पूर्व मिलने की घटना का आधार लेकर आगे कदम बढ़ाया है। किंतु, जैसा कि हम ऊपर बतला चुके हैं, यह सिद्धांत भ्रमपूर्ण ही है; क्योंकि जिसकी नींव ही कमजोर हो वह इमारत हमेशा डगमगाती रहती है।

ई० सन् से ५२६ वर्ष पूर्व[1] पर से (महावीर-निर्वाण का) बुद्ध संवत् का निर्णय करने के लिये हमें अनेक बातों के आधार मिल सकते हैं। किंतु हमें उस ओर दृष्टि न डालकर दो-एक प्रामाणिक इतिहासों का ही आधार लेना होगा—

(१) सिंहालीज इतिहास[2] में बुद्ध भगवान् के जीवन-क्रम की अनेक बातें, देवाह के राजा अंजन के संवत् में, आगे लिखे अनुसार लिखी हुई पाई जाती हैं।

नामक ग्रंथकर्त्री की "हार्ट ऑफ जैनिज्म" नामक पुस्तक की प्रस्तावना में पृष्ठ XIV. [इ] सर कनिंगहम की "बुक ऑफ इंडियन इराज" नामक पुस्तक के पृष्ठ ३७ (विक्रम संवत् से ४७० वर्ष पूर्व वीर-निर्माण है)। [ई] डॉ० स्टीवन्सन्-कृत कल्पसूत्र, प्रस्तावना VIII और टीका, पृष्ठ ६६। [फ] मेरुतुंगाचार्य्य की स्थविरावली, डॉ० भाउदाजी-कृत (ज० रॉ० ए० सो० बो०, पुस्तक ६, पृ० १४६)। [ग] कर्नल माइल्स (ज० रॉ० ए० सो० बो०, पुस्तक ३, पृष्ठ ३२८)। [ह] प्रो० कार्पेंटर (इंडि० ऐंटि०, पु० ४३, १६१४, पृष्ठ १३२)। इस प्रकार ई० पू० ५२७ दंतकथाओं के आधार पर है और ई० सन् से ४७७ वर्ष पूर्व गणना द्वारा सिद्ध किया गया है, और इससे संभव है कि पिछला वर्णन असत्य सिद्ध हो जाय।

(१) महावीर का निर्वाण कार्तिक कृ० ३० (पुरानी गणना अमांत महीने से), आधुनिक पद्धति से (पौर्णिमांत मास से) आश्विन कृ० ३० ई० सन् से ५२७ वर्ष पूर्व के अक्टूबर मास में ही संभवतः आ सकती है।

(२) इंडियन ऐंटिक्वेरी, पु० ३२, पृष्ठ २१८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[बुद्ध भगवान् की अवस्था]

(अ) बुद्ध भगवान् का जन्म (अंजन संवत्) ६८—०।
(ब) ,, ,, की भिक्षुकावस्था (,,) ९७–२९।
(क) ,, ,, ,, धर्मप्रवर्तकावस्था (,,) १०३–३५।
(ड) ,, ,, का निर्वाण (ज्ञानप्राप्ति) (,,) १२७(?)
—५९(?)[1]।

[सांसारिक मोह से विमोचन]

(ई) बुद्ध भगवान् का परिनिर्वाण (संसार की जंजीर से सर्वथा मुक्त होना = देहत्याग) मोक्ष (अं० सं०) १४८—८०[2]।

(२) राजा अजातशत्रु के शासनकाल के द्वितीय वर्ष भगवान् महावीर का और आठवें[3] वर्ष भगवान् बुद्ध का मोक्ष हुआ है।

इन दो प्रमाणों में से दूसरे में वर्णित निर्देशानुसार हम यह कह सकते हैं कि इन दोनों धर्म-स्थापकों के अंतकाल में छः वर्ष का अंतर है। भगवान् महावीर की मुक्ति प्रथम और भगवान् बुद्ध की पीछे से हुई है; अर्थात् ई० सन् से पूर्व ५२७वें वर्ष महावीर का मोक्ष-गमन है[4] और ई० पू० ५२० में भगवान् बुद्ध का मोक्ष-गमन सिद्ध हो चुका है।

---

(१) इसके बदले १२५ और ५७ होना चाहिए (कुछ समझ में नहीं आता कि यह भूल कैसे हुई)।

(२) केंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पुस्तक प्रथम, पृष्ठ १५६।

(३) इंडियन ऐंटिक्वेरी, पुस्तक ३७, पृष्ठ ३४२, केंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पु० १, पृष्ठ १५७; एसे बॉय प्रोफेसर जे० एच० कार्पेंटर, इंडि० एंटि०, १९१४ (महावीर के समय के संबंध में), पृष्ठ १३२।

(४) भगवान् महावीर का निर्वाण ई० सन् से पूर्व ५२७ के अक्टूबर में हुआ (देखिए, टीका नं० २)। इससे पूर्व १८वें महीने अजातशत्रु राजा सिंहासन पर बैठे थे और महावीर-निर्वाण के साढ़े छः वर्ष बाद बुद्ध-निर्वाण है। अर्थात् अजातशत्रु का राज्यारोहण ई० सन् से पूर्व ५२८ के अप्रैल में और बुद्ध का निर्वाण-काल ई० सन् से पूर्व ५२० के अप्रैल में समझना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महावीर की आयु ७२ वर्ष[1] की लिखी गई है और उनका मोक्ष ई० पू० ५२६ में हुआ है, अतएव कहा जा सकता है कि उनका जन्म ई० सन् से पूर्व ५२६ + ७२ = ५९८ में हुआ। इसी प्रकार बुद्ध भगवान् की आयु ८० वर्ष की[2] लिखी गई है और उनका मोक्ष ई० पू० ५२० में बताया गया है, अतएव उनका जन्म ई० पू० ५२० + ८० = ६०० में माना जा सकता है। इन दोनों की तुलना इस प्रकार हो सकती है—

भगवान् महावीर	उम्र	उम्र	भगवान् बुद्ध
जन्म, ई० सन् से पूर्व ५९८	...	...	जन्म, ई० सन् से पूर्व ६००
... ...	...	२९	संसारत्याग, भिक्षुकावस्था ई० सन् से पूर्व ५७१
प्रवर्तक, धर्मोपदेशक, दीक्षा ई० सन् से पूर्व ५६८ ज्ञानप्राप्ति, कैवल्यप्राप्ति Attainment of Supreme Knowledge ई० सन् से पूर्व ५५६	३०	३५	प्रवर्तकावस्था—Attainment of Buddhahood
मोक्ष (death), निर्वाण ई० सन् से पूर्व ५२६	४२	५७	निर्वाण[3], ई० सन् से पूर्व ५४३
	७२	८०	परिनिर्वाण[4], ई० सन् से पूर्व ५२०

(१) इस विषय में सभी जैन ग्रंथ एकमत हैं।

(२) देखिए, टीका नं० २ (पृष्ठ ५)।

(३-४) दक्षिण भारत में (सिंहालीज, बरमीज और सिआमीज) बुद्ध-निर्वाण से संवत् की गणना करते हैं, किंतु उत्तर भारत में बुद्ध के परिनिर्वाण से संवत्-गणना की जाती है। इस तरह इन दोनों प्रदेशों में बुद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्युक्त कोष्ठ-तालिका से यह भी सिद्ध होता है कि भगवान् बुद्ध के समस्त जीवन-काल[1] में महावीर विद्यमान रहे। उनका जन्म भगवान् बुद्ध के दो वर्ष बाद हुआ और मोक्ष बुद्ध के मोक्ष से छः वर्ष पूर्व हुआ। अर्थात् दोनों की आयु के बीच आठ वर्ष का अंतर है। महावीर की आयु ७२ वर्ष और बुद्ध की आयु ८० वर्ष की थी।

इस तरह इन दोनों संवतों का निर्णय नीचे लिखे अनुसार निश्चित माना जा सकता है—

महावीर संवत् (म० सं०) ई० सन् से पूर्व ५२६।

बुद्ध संवत् (बु० सं०) ५२४ ई० पू०।

उत्तर भारत के गणनानुसार (महावंश) ई० पू० ५२०[2]।

दक्षिण भारत के ,, ,, (दीपवंश) ,, ,, ५४३।

इसके बाद डॉ० शाह ने, मौर्य-राज्य की वंशावली पर विचार करते हुए, बतलाया है कि इसके लिये हमें (ब्राह्मण, बौद्ध, जैन) तीनों धर्मों की कुछ घटनाओं के प्रमाण देने पड़ेंगे और वे सब जब परस्पर सहायक एवं समर्थक के रूप में खड़ी रह सकेंगी तभी उनकी यथार्थता की निश्चित रूप से घोषणा कर सकेंगे।

संवत् के बीच २२-२३ वर्षों का अंतर रहता है और महावंश उत्तर भारत का तथा दीपवंश दक्षिण भारत का धर्मग्रंथ है। इन दोनों में भी २२-२३ वर्ष का अंतर है।

(१) जब बुद्ध भगवान् संगाम नामक ग्राम में थे, तब उन्हें अपने प्रतिस्पर्धी महावीर के पावापुरी में निर्वाण पाने का समाचार मिला। साथ ही निगंठों में मतभेद हो जाने का भी पता लगा (दिग्घनिकाय, पृष्ठ ११७ से आगे और मज्झिम निकाय, पृष्ठ २०६ से आगे)।

(क) अजातशत्रु के नवें या आठवें वर्ष में राज्याभिषेक से बुद्ध-निर्वाण हुआ है।

(ख) पृष्ठ २४३ से आगे, इंडि० एंटि०, १९१४, पृष्ठ १७७।

(२) देखिए, पृष्ठ ६ की टीका नं० २ और ३ तथा टीका नं० ४ (पृ० ५)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब सर्वप्रथम हम **सम्राट् अशोक** से ही आरंभ करते हैं।

(१) सिंहालीज इतिहास के अनुसार सम्राट् अशोक का राज्याभिषेक बुद्ध-निर्वाण[1] के २१८ वर्ष बाद हुआ और सिंहालीज लोगों की गणना[2] (दक्षिण भारत) से बुद्ध-निर्वाण ई० पू० ५४३-४४ है; अर्थात् ५४३ – २१८ = ई० पू० ३२५ में अशोक का राज्याभिषेक हुआ।

(२) सुदर्शन विभास (जो चीनी ग्रंथ है) में बताया गया है कि अशोक बौद्ध संवत् २१८ में[3] हुआ था। चीनी लोग भी बौद्ध संवत् की गणना बर्मीज और सिंहाली लोगों की ही तरह करते हैं अतः वह समय, उपर्युक्त पैराग्राफ के अनुसार, ई० सन् से पूर्व ३२५ ही सिद्ध होता है।

(३) डॉ० फ्लीट साहब[4] भी अशोक का राज्याभिषेक ऊपर लिखे अनुसार, बु० सं० २१८ में ही, मानते हैं।

(४) जनरल सर कनिंगहम अपनी पुस्तक (कोरपस् इंस्क्रिप्शंस इंडिकेरम्) की प्रस्तावना के पृष्ठ ९ में लिखते हैं कि अशोक का राज्य बु० सं० २१५ से २५६ तक ४१ वर्ष[5] रहा (५४४—२१५ = ई० पू० ३२९ से[6] २८८ तक)

---

(१) देखिए, दीपवंश VI, और आगे। इंडि० ऐंटि०, पु० ३८, पृष्ठ २६६; इंडि० ऐंटि०, पु० ३७, पृष्ठ ३४५।

(२) देखिए, टीका नं० २-३ (पृ० ६)।

(३) इंडि० ऐंटि०, पु० ३७, पृष्ठ ३४९।

(४) ईडि० ऐंटि०, पु० ३७, पृष्ठ ३५०।

(५) यह ४१ वर्ष का समय कैसे निश्चित हुआ, इसे जानने के लिये देखिए, निर्णय तथा उससे संबंध रखनेवाली टिप्पणी नं० ३ (पृष्ठ १०)।

(६) वह ई० सन् से पूर्व ३२९-३० में गद्दी पर बैठा और इसके ४ वर्ष बाद, अर्थात् ई० पू० ३२५ में, उसका राज्याभिषेक हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५) अंतिम शाक्यमुनि बुद्ध का निर्वाण सिंहल द्वीप और बर्मा के बौद्ध ग्रंथों के अनुसार ई० पू० ५४४ में हुआ तथा इसके बाद अशोक का राज्याभिषेक २१८ में हुआ। उसके पिता की मृत्यु बुद्ध-निर्वाण के २१४ वर्ष पूर्व हुई और बाद के चार वर्षों में उसने अपने भाइयों को समझा-बुझाकर[1] अपना राज्याभिषेक कराया।

इस पर से अशोक के पिता बिंदुसार की मृत्यु ई० सन् से पूर्व ५४४—२१४=ई० पू० ३३० में मानी जा सकती है। उसी वर्ष अशोक का गद्दी पर बैठना माना जा सकता है, किंतु उसका राज्याभिषेक चार वर्ष बाद ई० पू० ३२५-२६ में हुआ।

(६) अशोक ई० पू० ३२९ और ३२५ के बीच[2] गद्दी पर बैठा।

(७) शिशुनागवंशी राजा श्रेणिक के गद्दी पर बैठने और अशोक के राज्य का अंत[3] होने (अधिक स्पष्टता से यों कह सकते हैं कि उसकी मृत्यु के समय) के बीच ३११ वर्ष का[4] अंतर है। राजा श्रेणिक ई० पू० ५८० में[5] गद्दी पर बैठा। अर्थात् ५८०—३११=ई० सन् के पूर्व २६९ में अशोक की मृत्यु हुई कही जा सकती है।

---

(१) बुक ऑफ इंडियन इराज; सर कनिंगहम कृत, पृष्ठ ३४ से ३६ तक, जब कि अन्य ग्रंथों में उसको मार डालने विषयक उल्लेख पाया जाता है।

(२) इंडि० ऐंटि०, पु० ३२, पृष्ठ २३२ देखिए। मि० पी० सी० मुकर्जी, असि० ऑफ डॉयरेक्टर जनरल ऑफ आर्कियालॉजी।

(३) [इंडि० ऐंटि०, पु० ३२, पृष्ठ ३४२] किसी विद्वान् ने मूल का अनुवाद करते हुए Death शब्द के बदले Termination of reign कर दिया है।

(४) वायु पुराण में ३१२ वर्ष और मत्स्य पुराण में ३११ वर्ष लिखे गए हैं।—बुक ऑफ इंडियन इराज, पृष्ठ ३५; इंडि० ऐंटि०, पु० ३२, पृष्ठ २३२ देखिए।

(५) देखिए, शिशुनागवंश की वंशावली पर मेरा लेख।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(८) भगवान् बुद्ध और सम्राट् अशोक के बीच का अंतर-काल[1] **अवदानशतक** के अनुसार **लगभग** दो सौ वर्ष का होता है। जब बुद्ध का देहत्याग-काल ई० पूर्व ५२० है तब इसके अनुसार अशोक का समय ३२० होता है (जब कि अशोक का राज्याभिषेक ई० पू० ३२५ है और इसके[2] चार वर्ष बाद यदि उसने बौद्ध धर्म स्वीकार किया हो तो वह समय ई० पू० ३२१–२० हो सकता है; किंतु गद्दी पर बैठने के चार वर्ष बाद यदि उसने बौद्ध धर्म स्वीकार किया हो तो वह समय ३३० – ४ = ई० पूर्व ३२५ सिद्ध होता है)। कदाचित् ई० पू० ३२१ में जब अशोक स्वत: बौद्धधर्मी हुआ, उससे इसका संबंध हो, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। क्योंकि यदि ऐसा न होता तो धार्मिक पुस्तकों में इस घटना का इतने महत्त्व के साथ उल्लेख नहीं किया जाता। फिर भी **लगभग** शब्द का प्रयोग किया गया है। अतएव इस विषय को हम यहीं छोड़ते हैं।

उपर्युक्त आठों प्रमाणों से हम **सम्राट् अशोक** के विषय में निम्न-लिखित सारांश निकाल सकते हैं—

(अ) उसका गद्दी पर बैठना और बिंदुसार की मृत्यु ई० सन् से पूर्व ३३०-३२९ में हुई। (पैरा नं० ४।५।६ के अनुसार)

(ब) उसका राज्याभिषेक—गद्दी पर बैठने के ४ वर्ष बाद ई० सन् से पूर्व ३२५ में। (पैरा नं० १-२-३-५-६ और ८)

(क) उसका राज्यकाल—ई० सन् से पूर्व ३३० से ई० पू० २८९ तक ४१ वर्ष[3]। (पैरा नं० ४)

---

(१) देखिए, कोरपस् इंस्क्रिपशंस इंडिकेरम् की भूमिका, पृष्ठ ९।

(२) दीपवंश VI १८ तथा इंडि० एंटि० १९१४, पृष्ठ १६९; महावंश ५, १८९।

(३) उसके तीन विभाग हैं—पहले चार वर्ष राजा के रूप में, बाद के २३ वर्ष महाराजा के रूप में और अंत के १४ वर्ष उपरली (संरक्षक) के रूप में थे (४ + २३ + १४ = ४१ वर्ष)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ङ) उसकी मृत्यु ई० पू० २७० में हुई (उसकी कुल आयु ८२ वर्ष मानी जाती है, अर्थात् उसका जन्म २७० + ८२ = ई० पू० ३५२ माना जाता है। (देखिए, पैरा ७)

(ई) उसने शासन-सूत्र ई० पू० २८९ में छोड़ दिए[1] (पृष्ठ १० का 'क' देखिए) और उसकी मृत्यु[2] ई० पू० २७० में हुई (उपर्युक्त 'ङ' देखिए)। इन दोनों के बीच का १९ वर्ष का समय उसने **संन्यस्त दशा** और **प्रायश्चित्त** करने में बिताया।

अब **सम्राट् चंद्रगुप्त** के वर्षों का विचार करना चाहिए।

(१) ब्राह्मण धर्म के पौराणिक ग्रंथों में लिखा हुआ है कि प्रथम नंद के ठीक एक सौ वर्ष बाद[3] चंद्रगुप्त का मगधाधिपति के रूप में राज्याभिषेक हुआ था। नंद से पहले का शासन-काल ई० पू० ४७८ है, अर्थात् चंद्रगुप्त का राज्याभिषेक[4] ई० पू० ३७२ में हुआ (४७२ − १०० = ३७२)।

(२) सिंहालीज इतिहास के अनुसार चंद्रगुप्त बु० सं० १६२ में गद्दी पर बैठा। सिंहली लोग बुद्ध संवत् की ई० पू० ५४३ से गणना करते हैं। इस गणना के अनुसार वह समय ५४३ − १६२ = ई० पू० ३८१ में आता है; अथवा उसके राज्याभिषेक से (ऊपर का पैरा नं० १ देखिए) नौ वर्ष पहले से[5] गिना जा सकता है।

---

(१) पिछले पृष्ठ का 'क' देखिए, इंडि० ऐंटि० ३२, पृ० २३३।

(२) उपर्युक्त 'ङ' देखिए।

(३) देखिए, मेरा लेख 'शिशुनागवंश की वंशावली' टिप्पणी नं० ११। चंद्रगुप्त के गद्दी पर बैठने का समय अभी तक एकमत से निश्चित नहीं हो सका है। अभी खोज बाकी है।

(४) मौर्यवंश की स्थापना अथवा चंद्रगुप्त का गद्दी पर बैठना ई० सन् से पूर्व ३७८ में हुआ। बाद के ५-६ वर्ष नवम नंद के विरुद्ध सामग्री जुटाने में खर्च करने पड़े होंगे।

(५) ऊपर इंडि० ऐंटि०, पु० ३७, पृष्ठ ३४५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) जनरल सर कनिंगहम लिखते हैं कि[1] और बातें चाहे जो हों, किंतु इतना तो यथार्थ है कि चंद्रगुप्त के गद्दी पर बैठने के वर्ष का निश्चय करने में ६६ वर्ष की भूल हुई है और वह ई० सन् से पूर्व ३१६ के बदले बुद्ध संवत् १६२ होना चाहिए। जो ई० पू० ३१६ + ६६ = ई० पू० ३८२ होता है और वह पैरा नं० २ के अनुसार बुद्ध संवत् १६२ में होने से ठीक मिल जाता है।

(४) जैन पुस्तकों में चंद्रगुप्त के द्वारा नंदवंश का अंत[2] महा० सं० १५५ (ई० पू० ३७२) में किए जाने का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार ई० पू० ५२६—१५५ = ई० पू० ३७१-२ होता है।

(पिछले पृष्ठ के पैरा नं० १ से इसका मिलान कीजिए)।

(५) मौर्यवंश की स्थापना या चंद्रगुप्त का गद्दी पर बैठना बुद्ध संवत् १६२ में माना गया है[3]। अतएव ई० पू० ५४४—१६२ = ई० पू० ३८२ में चंद्रगुप्त गद्दी पर बैठा होगा।

इन उपर्युक्त प्रमाणों से चंद्रगुप्त का समय हम इस प्रकार निश्चित कर सकते हैं—

(अ) मौर्यवंश की स्थापना अथवा चंद्रगुप्त का शासनारूढ़ होना—ई० पू० ३८२ (पैरा नं० २, ३ और ५)

(ब) मगध के सिंहासन पर उसका राज्याभिषेक होना अथवा नंदवंश का अंत—ई० पू० ३७२ (देखिए, पैरा नं० और ४)।

(क) पुराणों एवं बौद्ध पुस्तकों तथा जैन ग्रंथों में[4] सबने चंद्रगुप्त का शासन २४ वर्ष चलने की बात लिखी है। इस गणना

---

(१) कोरपस् इंस्क्रिप्शन् इंडिका, प्रीफेस IV.

(२) पिछले पृष्ठ की टीका नं० ४-५ मिलाइए। हेमचंद्र सूरि के कथनानुसार इस घटना के समय महावीर-निर्वाण को १५५ वर्ष बीत चुके थे। —केंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पु० १, पृष्ठ १५६।

(३) इंडि० ऐंटि०, ३२, पृष्ठ २२७।

(४) देखिए, इंस्क्रिप्शन ऑफ अशोक प्रो० हुल्ट्श कृत पु० १, प्रस्तावना ३२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अनुसार ई० पू० ३८२—२४=ई० पू० ३५८ में, अंत होने अर्थात् ३८२ से २४ वर्ष पहले, वह गद्दी पर बैठा।

अब हम मौर्यवंश के प्रथम तीन राज्यकर्ताओं के वर्षों का क्रम बाँध सकने की अवस्था में आ चुके हैं। वह इस प्रकार है—

नाम	गद्दी पर बैठना ई० पू०	राज्याभिषेक ई० पू०	राज्य का अंत ई० पू०	कुल वर्ष
(१) चंद्रगुप्त	३८२	३७२–१	३५८[1]	२४
(२) बिंदुसार	३५८[2]	३४५[3]	३३०	२८[4]
(३) अशोक	३३०[5]	३२५–२६	२८९	४१

इन तीनों के शासनकाल की वर्ष-गणना द्वारा यह निर्णय किया जा सकता है कि जब सिकंदर महान् ने ई० पू० ३२७ में भारत पर आक्रमण किया तब मौर्य-वंश का कौन व्यक्ति उससे

---

(१) यथार्थ में तो ई० पू० ३५८ में उसने जैन धर्म की दीक्षा ली थी, इसके कुछ वर्ष बाद वह दक्षिण भारत के श्रवणबेलगोला के निकट चंद्रगिरि पर्वत पर (जो कि उसी के नाम पर चंद्रगिरि कहलाता है) अनशन करके स्वर्गवासी हो गया। भद्रबाहु स्वामी दक्षिण में उसके साथ विहार में जाते थे।

(२) जैन मतानुसार उसने १६ वर्ष राज्य किया। अतएव ३६०—१६=३४४—५ उसका राज्याभिषेक हुआ। उस समय तक, अर्थात् ३५८ से ३४५ के १३ वर्ष तक, चंद्रगुप्त साधु वेश में जीवित रहा होगा। इसी लिये बिंदुसार ने अपने पिता की विद्यमानता में राजमुकुट पहनना उचित न समझा होगा। इस तरह चंद्रगुप्त की मृत्यु ई० पू० ३४५ में हुई कही जा सकती है।

(३) देखिए, उपर्युक्त टीका नं० २

(४) पुराणों में जहाँ २५ वर्ष लिखे हैं वहीं बौद्ध पुस्तकों में २८ वर्ष (प्रो० हुल्ट्श, अशोक के लेख, पृ० १, प्रस्तावना XXXII) किंतु जैन-मतानुसार उसका शासन १६ वर्ष रहा। इस तरह बौद्ध और जैन मत के प्रमाण मिल जाते हैं।

(५) उपर्युक्त पैरा ५, पृष्ठ ७० देखिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छावनी में जाकर मिला था, और ग्रीक इतिहासकारों ने जिस सेंड्रोकोट्स को चंद्रगुप्त लिख दिया है, उनके पास इसके लिये क्या आधार था ? साथ ही ऐसा करके उन्होंने सत्य का समर्थन किया अथवा असत्य का ? एवं वह व्यक्ति राजकुमार था या स्वयं राजा ?

श्री पी० सी० मुकर्जी ने इन शब्दों में अपना मत[1] प्रकट किया है—"यूरोपीय विद्वानों ने पर्याप्त प्रमाणों के बिना ही, केवल उच्चारण की समानता के कारण, मेसर्स जस्टिन, स्ट्रेबो तथा अन्य सम्मानित ग्रीक लेखकों द्वारा मेगेस्थिनीज की कल्पित डायरी के आधार पर लिख मारा है कि सेंड्रोकोट्स ही चंद्रगुप्त[2] था और उसी ने सिकंदर महान् से मुलाकात की थी तथा ई० पू० ३१० में सेल्युकस निकोटर को पराजित किया था। साथ ही पंजाब में से (जिस प्रदेश का चंद्रगुप्त ने कभी दर्शन तक न किया होगा) ग्रीक लोगों को निकालकर भगा दिया।" यह सिद्धांत केवल हाँ में हाँ मिलाकर ही सत्य मान लिया गया है।

ग्रीक इतिहास के असली लेख, जिसके कारण मेसर्स जस्टिन, स्ट्रेबो आदि ने संसार के सम्मुख सेंड्रोकोट्स को चंद्रगुप्त के रूप में प्रकार किया है, का अनुवाद मि० क्रिडेंल सा० ने (देखिए,

---

(१) इंडि० ऐंटि०, पु० ३२, पृष्ठ २३२ देखिए।

(२) इसके विरुद्ध यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि सेंड्रोकोट्स को ही चंद्रगुप्त सिद्ध करने के लिये प्रमाण क्या हैं ? इसी प्रकार अशोक ही मगध की गद्दी पर था और उसके समकालीन ग्रीक देश के पाँच विभागों में भिन्न भिन्न राजा थे, जिनके नाम शिलालेखों में मिलते हैं, इस बात को सिद्ध करने के लिये भी कौन से पुष्ट प्रमाण हैं ? अथवा अशोक की ओर से उन प्रदेशों में अपने भिक्षुओं को भेजने के लिये भी क्या प्रमाण है ? महावंश और दीपवंश के समान प्रामाणिक बौद्ध ग्रंथों में भी इस विषय का उल्लेख क्यों नहीं उपलब्ध होता ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पोंपी ट्रोगी XV. 4) किया है और जिसका उद्धरण प्रो० हुल्ट्श[1] ने अपने ग्रंथ में दिया है, उसका अनुवाद यहाँ दिया जाता है। इससे अनेक ज्ञातव्य विषयों का पता लग जाता है—

"सिकंदरशाह के सरदारों द्वारा राज्य को छिन्न-विच्छिन्न कर दिए जाने के बाद सेल्युकस ने भी पूर्व की ओर अनेक बार आक्रमण किए। प्रथमत: उसने बेबिलोनिया को जीता, और इसके बाद विजय से गर्वित हो सेना सहित बेक्ट्रियंस पर अंकुश जमाया। इसके बाद वह भारत में प्रविष्ट हुआ। सिकंदरशाह की मृत्यु के बाद, मानों गुलामी की जंजीरों को एकदम ही फेंक दिया हो इस तरह, उसके सभी सूबों को भारत ने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया था। उनका मुख्य सरदार सेंड्रोकोट्स था, जिसने उनकी स्वतंत्रता के लिये विजय प्राप्त की थी। किंतु विजय प्राप्त करने के बाद उसने जैसा अन्याय[2] करना आरंभ किया था, उसके कारण वह "मुक्तिदाता"-रूपी अपने 'विरुद' को खो बैठा था। क्योंकि गद्दी पर बैठकर[3] विदेशी राज्यकर्ताओं के जुए[4] से उसने जिस जनता का उद्धार किया था उसी को वह अब गुलामी की जंजीरों से कसने लगा था। उसका जन्म साधारण[5] अवस्था में हुआ था, किंतु प्रबल सौभाग्यदर्शक शकुन के बल पर अपने को

---

(१) अशोक के शिलालेख नामक ग्रंथ, पु० १, पृष्ठ XXXIII देखिए।

(२) अशोक के अन्यायी होने का प्रमाण इस वाक्य से मिलता है।

(३) उस समय अशोक गद्दीपति के रूप में राज्य करता था, यह इस शब्द से निश्चित हो सकता है। (ई० सन् से पूर्व ३२७ में)

(४) अशोक कितना बलवान् और शक्तिशाली था, यह इस वाक्य से प्रकट होता है। साथ ही इसका भी अनुमान लगाया जा सकता है कि भारत पर कैसे कैसे आक्रमण हुए।

(५) इस वाक्य से यह अनुमान होता है कि अशोक स्वयं राज्यकर्त्ता का ज्येष्ठ पुत्र नहीं, वरन् केवल राजकुमार ही होना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्याधिपति बनाने की आशा से वह प्रेरित हुआ था। क्योंकि अपने उद्धत आचरण[१] से जब उसने राजा नंद्रुम का[२] अपमान किया और इसी कारण जब राजा नंद्रुम ने उसे मार डालने[३] की आज्ञा दी तो अपने प्राण बचाने के लिये वह मुट्ठी बाँधकर भाग निकला[४], किंतु थक जाने पर जब वह वन में निश्चेष्ट होकर

---

(१) अशोक स्वयं उग्र स्वभाव का था, यह बात जो बौद्ध पुस्तकों में लिखी गई है, वह इस वाक्य से यथार्थ सिद्ध होती है। किंतु यदि इस वाक्य का राजनीतिक भाषा के रूप में अर्थ किया जाय तो अशोक किसी से दबनेवाला सिद्ध नहीं होता; बल्कि वह मुँह पर ही खरा उत्तर दे डालने-वाला जवाँमर्द सिद्ध होता है। साथ ही प्रतिस्पर्धी के प्रबल सत्तावादी होने पर भी, अनुचित माँग पेश करने पर, "जैसे को तैसा" पराक्रम दिखलाने के लिये शक्तिमान् होने का उसे आत्मविश्वास था।

(२) नंद्रुम शब्द द्वितीया विभक्ति का प्रयोग है। ग्रीक हस्तलिखित पुस्तकों में कई जगह नंद्रुम के बदले अलेक्जेंड्रुम् शब्द देखने में आता है। इससे सिद्ध होता है कि नंद्रुम् का नहीं, वरन् अलेक्जंडर का अपमान हुआ था। अब दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि किसी विदेशी राजा की छावनी में एक भारतीय राजा के अकारण जाने और बिना किसी वाद-विवाद के (क्योंकि नंद्रुम शब्द नंद राजा की द्वितीया विभक्ति है और नंद नाम हिंदू राजा का है, विदेशी राजा का नहीं) अपमान कर बैठने का मत-लब क्या हो सकता है? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि नंद राजा को पराजित कर चंद्रगुप्त मगध की गद्दी पर बैठा, और इस बात को सिद्ध करने के लिये ही ठोक-पीटकर स्वेच्छापूर्वक री नंद्रुम शब्द के बदले अलेक्जेंड्रुम् कर दिया गया, है।

(३) किसी राजा को अपनी छावनी में सलाह-मसलहत के लिये बुलाना और वह स्वीकार न करे तो उसे मार डालने का हुक्म दे डालना यही सिद्ध करता है कि अलेक्जेंडर कितना अत्याचारी था और न्याय-अन्याय का विचार उसे कहाँ तक था।

(४) कोई मनुष्य चाहे जैसा वीर और बहादुर हो, किंतु जब उसे किसी सलाह की गोष्ठी के लिये बुलाया जाता है तब वह अकेला ही होना चाहिए। अतएव उसके लिये भाग निकलने के सिवा दूसरा मार्ग ही नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घोर निद्रा में सो रहा था, तब वहाँ एक बहुत बड़ा सिंह आ पहुँचा और उसने जोरों से गुर्राते हुए उस (मनुष्य) के शरीर को चाटना आरंभ किया, जो पसीने से लथपथ हो रहा था[1]। वह जैसे ही जाग्रत हुआ वैसे ही सिंह चुप चाप अपने मार्ग को चल दिया। इस घटना को उसने शुभ शकुन समझकर स्वयं राज्यगद्दी पाने के लिये उद्योग आरंभ किया। अर्थात् लुटेरों की टोली इकट्ठी कर विद्यमान राजसत्ता को उलट देने के लिये वह कटिबद्ध हो गया। साथ ही जब वह सिकंदर बादशाह के सूबे पर आक्रमण करने की तैयारी में लगा हुआ था, तब एक जबरदस्त जंगली हाथी उसके सामने चला आया और पालतू जानवर की तरह घुटने टेककर[2] अपनी सूँड़ से उठाते हुए उसने उसे पीठ पर बैठा लिया। इसके बाद वह उसे लेकर सारी सेना में घूमा और लड़ता रहा। इस प्रकार सेंड्रोकोट्स[3] की विजय हुई और वह भारत का शासन करने लगा। उस समय सेल्युकस अपनी सत्ता

रह जाता। किंतु इस तरह का कार्य्य सिकंदर के समान प्रतापी बादशाह को शोभा नहीं दे सकता। बल्कि उसे महत्त्वाकांक्षी के बदले अत्याचारी ही कहना पड़ेगा; क्योंकि प्रतिपक्षी यदि उसकी उचित या अनुचित इच्छा के वशीभूत न हो तो उसे मार डालना क्या बुद्धिमत्तापूर्ण राजनीति कहा जायगा? ग्रीक लेखक अपने बादशाह को प्रशंसा के शिखर पर चढ़ाने के लिये चाहे जैसे विशेषणों का प्रयोग करें, किंतु सत्य-शोधक तो इससे दूसरे ही प्रकार के अनुमान लगावेगा।

(१-२) इस प्रकार के उल्लेख यदि किसी बौद्ध ग्रंथ में हों तो अवश्य ही वह अशोक सिद्ध हो सकता है।

(३) हम यह सूचित करना चाहते हैं कि सेंड्रोकोट्स शब्द का व्युत्पत्ति-प्रतिपादित अर्थ क्या हो सकता है, इस पर विचार किया जाय; क्योंकि अशोक स्वयं ही शरीर से बेडौल और कुरूप था। अतएव उक्त शब्द से तो यह आशय नहीं निकलता? इस विषय में मैंने ग्रीक भाषा के एक कुशल विद्वान् से पूछताछ की थी, किंतु कोई सार न निकल सका।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कायम करके उसकी जड़ जमाने के उद्योग में लगा हुआ था। इसी लिये उसने पूर्व की ओर सारी व्यवस्था करने के बाद संधि की और एंटीगोनस[1] के साथ शक्ति आजमाने के लिये वह स्वदेश की ओर वापस लौटा।

ऊपर हम यह देख चुके हैं कि सेंड्रोकोट्स चंद्रगुप्त नहीं वरन् उसका पौत्र अशोक है। अर्थात् इस तरह हमें दो राज्य आगे बढ़ना होगा, जिनका समय लगभग ६० वर्ष होता है। इसी प्रकार समस्त शिलालेखों के कर्ता का समय भी अशोक के बदले उसके बाद ६० वर्ष तक बढ़ाकर[2], उस समय जिस शासक की मगध देश पर सत्ता होगी उसे स्वीकार करना पड़ेगा जिसे विशेष प्रमाणों के आधार पर हम इसी लेख में आगे चलकर सिद्ध करेंगे। अभी तो हम इतना ही कहकर संतोष करना चाहते हैं कि इस बात का जैन मत से समर्थन होता है। जैन धर्म के परम और दृढ़ भक्तराज के रूप में दो व्यक्तियों के नाम विख्यात हैं—एक मौर्य्यवंशी सम्राट् संप्रति और दूसरा चौलुक्यवंशी राजा कुमार-पाल। इन दोनों में भी राज्य-प्रदेश-विस्तार एवं अन्य अनेक जैन

---

(१) अलेक्जेंडर के बाद गद्दी पर बैठनेवाला यह ग्रीक बादशाह था। इसने ई० पू० ३०५ में भारत पर आक्रमण किया था; किंतु मगधपति को पराजित करने में यह सफल न हो सका। (अशोक किस प्रकार का राज-नीतिज्ञ एवं शूरवीर था, वह इस प्रमाण से स्पष्ट प्रकट हो जाता है। निकेटर भी कोई निर्बल या ऐसा-वैसा आदमी नहीं था; वरन् वह भी सिकंदर की तरह प्रबल प्रतापी बादशाह था, यह बात ग्रीक इतिहास से सिद्ध होती है।) अतएव संधि के रूप में उसने अपनी पुत्री मगधपति को देकर दहेज में लगभग पाँच सौ हाथी आदि भेंट किए थे और इस तरह उससे संबंध स्थापित करने के बाद वह सदैव के लिये अपने देश को लौट गया था।

(२) चंद्रगुप्त के २४, बिंदुसार के २८ और अशोक के ४ मिलाकर कुल ५७ वर्ष अर्थात् लगभग ६० वर्ष कहे जा सकते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म-विषयक कार्यों की दृष्टि से सम्राट् संप्रति की तुलना में कुमारपाल किसी गिनती में ही नहीं आ सकता। सम्राट् संप्रति ने तो[1] कुमारपाल से आगे बढ़कर जैन धर्म का प्रचार करने में सतत और सबल उद्योग भी किया था। इतना ही नहीं वरन् सातों क्षेत्रों (मूर्ति, मंदिर, पुस्तक, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका) को उत्तेजन देने में भी उसने अपनी शक्तियों को खर्च किया था। सारांश, जैन धर्मानुयायी राजपुरुषों में सम्राट् संप्रति का स्थान सर्वश्रेष्ठ है और जैन-समाज उसका अत्यंत ऋणी है। किंतु फिर भी प्रो० जेकोबी साहब को[2] (संप्रति के विषय में यथेष्ट अध्ययन करने के बाद भी) कहना पड़ा है कि वह एक काल्पनिक व्यक्ति के रूप में था। किंतु इस तरह कहने का तात्पर्य क्या हो सकता है? मेरी धारणा के अनुसार जिस प्रकार कनिंगहम साहब ने मत प्रकट किया है[3] कि चंद्रगुप्त के शासनारूढ़ होने के वर्षों को लिखते समय लगभग ६० वर्ष की भूल हुई है उसी प्रकार यह बात भी कारणीभूत हो गई है। प्रो० जे० एल० कार्पेंटर साहब[4] लिखते हैं कि "पौराणिक और जैन ग्रंथों में नवम नंद का जो वर्णन दिया गया है, वह किसी भी रूप में उन्हीं राजाओं के डिओडोरस सिक्युलस और क्वींटस् कर्टिअस के किए हुए वर्णन से मिलता हुआ नहीं है। अर्थात् जो नंद सिकंदरशाह की पंजाब पर की हुई चढ़ाई के समय पाटलिपुत्र की गद्दी पर था वह ग्रीक

---

(१) इसी लेख की टीका नं० १ (पृ० ३१) से तुलना कीजिए।

(२) परिशिष्ट पर्व और एंसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजंस एंड एथिक्स नामक पुस्तक में जैन शब्द के साथ सारा वर्णन।

(३) कोरपस् इंस्क्रिप्शंस इंडेकेरम्, प्रीफेस IV.

(४) देखिए, इंडि० एंटि० १९१४, 'महावीर का समय' शीर्षक लेख तीन भागों में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोगों के वर्णन किए हुए सेंड्रेकोट्स उर्फ चंद्रगुप्त का पुरोगामी था।"

इस प्रकार यह बात पुष्ट प्रमाणों से सिद्ध हो चुकी है कि सेंड्रेकोट्स चंद्रगुप्त नहीं वरन् अशोक ही था।

शिलालेख और अन्य प्रमाण

'यद्यपि शिलालेखों में खुदे हुए प्रत्येक वाक्य, शब्द और उनकी रचना से अशोक की जीवनकला के वृत्तांत, बारीक जाँच के पश्चात्, जिस प्रकार आज विश्वस्त माने जाते हैं उसी प्रकार वे दूसरे रूप में भी सिद्ध किए जा सकते हैं; किंतु ऐसा करने के लिये न तो यह स्थान है और न समय ही। इसलिये यहाँ तो केवल उन बहुसंख्यक प्रमाणों में से २५-३० को ही अपने विषय की पुष्टि के लिये लेकर उनके पृथक्करण द्वारा यह बतलाया जायगा कि हमारा मत किस रूप में यथार्थ है।

(१) सबसे पहला शिलालेख क्या बतलाता है? किस कारण "अहिंसा"—अप्राणातिपात—को सर्वोपरि स्थान दिया गया है? जिस क्रम से शिलालेखों का लिखना आरंभ किया गया है उसी से यह सिद्ध हो जाता है कि उनका लिखवानेवाला जैन[1] ही होना चाहिए, बौद्ध नहीं।

(२) श्री गिरनारजी की तलहटी में सुदर्शन नाम का जो तालाब है, उसका पुनरुद्धार-संबंधी लेख भी वहाँ खुदा हुआ है। उसका अनुवाद पीटर्सन साहब ने इस प्रकार किया है कि[2] यह तालाब प्रथम सम्राट् चंद्रगुप्त के समय में वैश्यगुप्त ने[3]

---

(१) अहिंसातत्त्व को जितना महत्त्व जैन धर्म में दिया गया है उतना अन्य किसी भी धर्म में नहीं।

(२) देखिए, भावनगर के शिलालेख संस्कृत और प्राकृत, पृष्ठ २०।

(३) मगधपति चंद्रगुप्त का राज्य-विस्तार कहाँ तक बढ़ा हुआ था, वह इस वर्णन से प्रकट होता है। प्रश्न—कौटिल्य अथवा चाणक्य का, जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनवाया था। इसके बाद उसके चारों ओर की दीवारें सम्राट् अशोक के समय में तुषस् नामक सत्ताधारी ने पहली बार सुधरवाई थीं। इसके बाद दूसरी बार का जीर्णोद्धार प्रियदर्शिन् के समय में किया गया था।

इस कथन में भिन्न भिन्न तीन[1] शासनकालों की सूचना मिलती है—एक चंद्रगुप्त के, दूसरे अशोक के और तीसरे प्रियदर्शिन् के। इससे सिद्ध होता है कि अशोक और प्रियदर्शिन् दो भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं। इस प्रकार के शिलालेख-रूपी पुष्ट प्रमाणों से बढ़कर अधिक पुष्ट प्रमाण ही क्या हो सकते हैं? किंतु इतने पर भी जेकोबी साहब संप्रति[2] को काल्पनिक व्यक्ति मानते हैं!

(३) उपर्युक्त सुदर्शन तालाब के शिलालेखवाले बादशाह के शासन के विषय में लिखते हुए पीटर्सन साहब बतलाते हैं कि "उस राजवंशी पुरुष की जन्मकाल से लेकर उत्तरोत्तर अप्रतिहत समृद्धि निरंतर बढ़ती ही चली गई।" विशेषण रूप से उपयोग किए गए शब्द ही क्या यह सूचित नहीं करते कि वे जैन सम्राट् संप्रति उर्फ प्रियदर्शिन् के लिये हैं, जिसे केवल ६ से १० मास की अर्भकावस्था में ही गद्दी प्राप्त हो गई थी?

चंद्रगुप्त का प्रधान मंत्री था और जिसका नाम विष्णुगुप्त था, इस व्यक्ति से कोई संबंध हो सकता है? क्योंकि इतना बड़ा तालाब बनवाना किसी साधारण साधनवाले व्यक्ति का काम नहीं हो सकता। यद्यपि मूल-लिपि के शब्दों की बारीकी से जाँच करने पर वह विष्णुगुप्त ही पढ़ा गया है और चाणक्य का नाम ही अब तक विष्णुगुप्त सुना गया है, सो उसके बदले वह वैश्यगुप्त हो सकता है अथवा दोनों नाम एक ही व्यक्ति के हों अथवा दोनों विभिन्न व्यक्ति भी हों।

(१) इस विषय के विशेष खुलासे के लिये इसी लेख का परिशिष्ट देखिए।

(२) संप्रति ही प्रियदर्शिन् है। इसके प्रमाण-स्वरूप मेरा नं० ३, ५, १५, २५, २७, २८ और ३० देखिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४) प्रो० रा० गो० भांडारकर[1] का कहना है कि "राजा संप्रति को केवल १० दिन की अवस्था में ही गद्दी पर बिठाया गया था।" किंतु यहाँ १० दिन के बदले १० महीने लिखना चाहिए था। किंतु इससे यह फलितार्थ निकलता है कि "संप्रति दुधमुँही अवस्था में ही गद्दीपति के रूप में घोषित किया गया था।"

(५) ऐसा वर्णन मिलता है कि[2] मगध के सिंहासन पर श्रेणिक नाम का राजा था। उसके बाद सत्रहवाँ राजा संप्रति[3] हुआ है। उसका शासनकाल महावीर संवत् २३८ (ई० पू० २८९) से आरंभ हुआ, जब कि सम्राट् अशोक के राज्य का अंत हो रहा था[4]। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि सम्राट् अशोक के बाद ही लगे-हाथ सम्राट् संप्रति का शासन शुरू हो गया।

(६) कर्नल टॉड साहब लिखते हैं[5] कि संप्रति का शासन-काल ई० पू० ३०३-०४ में आरंभ हुआ था, अतएव उसका जन्म भी ई० पू० ३०४ में हुआ होगा और दस महीने की उम्र में वह गद्दी पर बिठाया गया होगा तथा १५ वर्ष की अवस्था में, ई० पू० २९०-८९ में उसका राज्याभिषेक हुआ होगा।

(७) शिलालेखों में ऐसे उद्धरण मिलते हैं[6] कि सम्राट् प्रियदर्शिन् के शासनकाल में ग्रीक-साम्राज्य के पाँच

---

(१) देखिए, भांडारकर साहब की रिपोर्ट IV, सन् १८८३-८४, पृष्ठ १३५।

(२) देखिए, इंडि० ऐंटि०, पु० ११, पृष्ठ २४६।

(३) देखिए, शिशुनागवंश की वंशावली पर मेरा लेख।

(४) पृष्ठ ६ की धार 'क' तथा आगे का पैरा २४ देखिए।

(५) टॉड राजस्थान, द्वितीय आवृत्ति।

(६) देखिए, शिलालेख नं० २ और १३।

श्री दे० रा० भांडारकर अपनी 'सम्राट् अशोक' नामक पुस्तक के १५६ पृष्ठ में लिखते हैं कि हिंदुस्तान से बाहर बौद्ध धर्म का प्रसार अशोक के शासन-काल (R. E. XIII) में ही हुआ था, इस विषय में अनेक विद्वानों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिस्से[1] हो गए थे। उनमें जो नाम बतलाए गए हैं, उन पाँचों के आधार पर यूरोपीय विद्वानों ने उनका शासनकाल इस प्रकार निश्चित किया है—(१) ई० पू० २६१ से २४६, (२) ई० पू० २८५ से २४७, (३) ई० पू० २७४ से २४२, (४) ई० पू० २५६ और (५) ई० पू० २७२ से २५४।

शिलालेखों की खुदाई का समय भले ही बाद का हो, किंतु उनमें स्पष्ट शब्दों में लिखा हुआ है कि उपर्युक्त घटना (शिलालेख में खुदी हुई) प्रियदर्शिन् राजा द्वारा, उसके राज्याभिषेक होने के आठ वर्ष पश्चात्, कलिंग देश जीत लेने से पहले हुई है। ऐसी दशा में यदि अशोक और प्रियदर्शिन् एक ही हों तो, ई० पू० ३२५-८ में अशोक का राज्याभिषेक होने के हिसाब से वह समय ई० पू० ३१७ होता है[2] और इस दृष्टि से विचार करने पर उपर्युक्त पाँच वर्षों में से किसी के साथ भी (राज्यशासन के आरंभ या अंत से) उसका क्रम नहीं जुड़ता; बल्कि इसके विरुद्ध वह और ५०-६० वर्ष पहले चला जाता है। इससे निश्चित होता है कि प्रियदर्शिन् और अशोक दोनों एक ही व्यक्ति कदापि नहीं हो सकते।

(८) जनरल सर कनिंगहम[3] की यह धारणा है कि "शिलालेख और स्तंभलेख में उल्लिखित प्रियदर्शिन् अशोक के मौर्य्य होने के

हृदय में शंका है। साथ ही (पृष्ठ १२८) में वे यह लिखते हैं कि "फिर भी इस बात के अनेक प्रमाण उन शिलालेखों एवं ग्रंथों में (देखिए इंडि०ऐंटि० १९११, पृष्ठ ११-३) मिलते हैं कि ग्रीक लोगों ने बौद्ध एवं भारत के अन्यान्य धर्मों को स्वीकार किया था।"

(१) इसी लेख के पैरा २७ और २९ से तुलना कीजिए। सीलोन का राजा तिसा (ई० पू० २४७-२०७) भी अशोक का समकालीन था। इस बात का उल्लेख होने पर इस वर्ष के साथ मेल नहीं बैठता। देखिए, इसी लेख का फुटनोट नं० १ (पृ० ४९)।

(२) देखिए, निर्णय ब, चंद्रगुप्त के समय के साथ अशोक के शासनवर्ष।

(३) को० इंस्क्रि० इंडि०, पृष्ठ ४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय में प्रो० विल्सन साहब अंत तक शंकाशील ही रहे हैं।" प्राचीन संशोधन के ऐसे अद्भुत एवं गंभीर विद्वान् की लिखावट जब इस प्रकार की है, तब प्रियदर्शिन् को ही अशोक बतलाने की पुकार मचाना किसी प्रकार भी युक्ति-संगत नहीं कहा जा सकता और ऐसा करते हुए सत्य को आघात ही पहुँचता है।

(६) रूपनाथ, वैराट् और सहसराम[1] के शिलालेखों में '२५६' का अंक है और लिपिज्ञाताओं ने संप्रति उसका अर्थ किया है—"पूजन में २५६ रात्रियाँ बीतने के बाद"; किंतु इसका वास्तविक आशय यह है कि "उसके सद्गत् पाने के २५६ वर्ष बाद"। पर यह अर्थ अभी कुछ दिन पूर्व बदला गया है। इससे पहले तो उसका यही अर्थ किया जाता था।

प्रो० हुल्ट्श का कहना है[2] कि "उन्हें किस कारण (क्योंकि उनकी धारणा अशोक-विषयक है, इसी लिये उन्होंने अशोक शब्द लिखा है) यह २५६ का अंक लिखना पड़ा है, वह अभी तक प्रकट नहीं हो सका।" साथ ही वे यह भी लिखते हैं कि डा० फ्लीट साहब के सूचनानुसार (ज० रा० ए० सो० १९१० के पृष्ठ १३१-७) बुद्ध-निर्वाण के बाद २५६ वर्ष बीत चुकने से २५६

---

(१) देखिए, इंडि० ऐंटि० १९१४, पृष्ठ १७३ डा० बुह्लर। इंडि० ऐंटि० VI, पृ० १४९ और उससे आगे, इंडि० ऐंटि० २२, पृ० २९९ और आगे। एपिग्राफिका इंडिका III, पृ० १३४ और बाद, डॉ० फ्लीट ज० रा० ए० सो० १९०४, पृष्ठ १ आदि। इन सब में भी यही लिखा हुआ है। सिद्धपुर, सहसराम और रूपनाथ के शिलालेखों में भी २५६ का अंक है। यह बुद्ध-निर्वाण के पश्चात् उतने वर्ष बाद का समय समझना चाहिए। इस धारणा को एफ० डब्ल्यू० थामस ने बिल्कुल मिथ्या सिद्ध कर दिखाया है।

(२) इंस्क्रिप्शन् ऑफ अशोक, पु० १, पृ० XIVII.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रात्रि तक पूजन किया था। इस सूचना के साथ मैं सहमत नहीं हो सकता।

अब यदि २५६ के अंक[1] को हम बुद्ध-संवत् के रूप में मानें तो बुद्ध का स्वर्गवास ई० पू० ५२० में है। इस हिसाब से ५२०—२५६ = २६४ आता है, इस प्रकार अशोक की मृत्यु के[2] बाद छठे वर्ष यह समय आता है। और बुद्ध-निर्वाण के हिसाब से ५४४—२५६ = ई० पू० २८८ हो जाता है, अर्थात् अशोक के शासनसूत्र त्याग देने के बाद वह समय होना चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि उन शिलालेखों के साथ अशोक[3] का कोई संबंध ही नहीं था।

(१०) प्रो० पिशल साहब के मतानुसार रूपनाथ, वैराट् और सहसराम के लेख[4] भी प्रियदर्शिन् के ही हैं। इस असल लेख का अनुवाद करते हुए डॉ० बुह्लर ने अपना भिन्न मत प्रकट किया है। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि प्रो० रीज डेविस, जो प्रथमतः २५६ वर्ष के साथ सहमत नहीं थे, गंभीर अध्ययन के बाद गवेषणा करने पर पिशल साहब से सहमत हो गए हैं।

(११) नागार्जुन की गुफा के लेखों में सम्राट् अशोक के पौत्र तथा उसके बाद तत्काल ही गद्दी पर बैठनेवाले देवानां प्रिय

---

(१) प्रियदर्शिन् राजा को गद्दी पर बैठे ३२॥ (३० + २॥ "अड्ढोतिसानि"—देखिए रूपनाथ का लेख) वर्ष हुए थे। उस समय अर्थात् ई० पू० ३०३—३२॥ = ई० पू० २७० में उसने ये शिलालेख खुदवाए होंगे। इस प्रकार ई० पू० २७० अर्थात् महावीर सं० २५६ होता है और वह स्वयं जैन-धर्मानुयायी होने से महावीर संवत् का ही उपयोग करता था।

(२) देखिए, अशोक के शासन-त्याग पर इसी लेख का अंश (ई)।

(३) इसी लेख का पैरा नं० १० देखिए।

(४) इंडि० ऐंटि०, पु० ७, पृष्ठ १४२। असल लेख प्रो० पिशल का लिखा हुआ है, किंतु उसका अँगरेजी अनुवाद डॉ० बुह्लर ने छपाया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दशरथ[1] का नाम लिखा मिलता है। इससे विश्वास होता है कि अशोक के पश्चात् गद्दी पर बैठनेवाला[2] राजा[3] प्रियदर्शिन् ही था। उसी ने गुफा के भीतर के शिलालेख खुदवाए थे और उसी का दूसरा नाम दशरथ था।

(१२) महावंश या दीपवंश के समान सर्वमान्य बौद्ध ग्रंथों में कहीं भी यवन राजा का नाम तक सूचित किया हुआ नहीं पाया जाता[4]। डॉ० विंसेंट स्मिथ इन नामों के अभाव का कारण[5] यह बतलाते हैं कि, ये पुस्तकें ई० सन् की पाँचवीं या छठी शताब्दी में लिखी जाने के कारण, इनके लेखकों को या तो वे विस्मृत हो गए हों या फिर उन देशों के नाम का आधुनिक नामों के साथ परिचय न हो सकने से (क्योंकि इसमें लगभग ८०० वर्ष का अंतर पड़ गया था) उनका उल्लेख न किया जा सका हो!

क्या यह बचाव स्वीकार किया जा सकता है कि बौद्धों के समान जनता के, जो जैन धर्मियों को अपने से भिन्न—पाखंड—मत का समझती हो, और उसके प्रामाणिक माने जानेवाले महावंश तथा दीपवंश जैसे ग्रंथों में उनके लेखक ग्रंथकर्ता क्या ऐसी महत्त्व-पूर्ण बात लिखना भूल सकते हैं कि जिस बात को सारी दुनिया के जानने पर अपने धर्म का गौरव विशेष रूप से वृद्धि पा सकता

---

(१) देखिए, प्रो० हुल्ट्श-कृत "अशोक के शिलालेख", पुस्तक प्रथम, प्रस्तावना पृ० XXV और XXVIII. विशेष जानकारी के लिये टीका नं० २(पृ० ४५)।

(२) देखिए, इसी लेख का पैरा नं० २४।

(३) " " " पैरा नं० ५।

(४) [दे० रा० भांडारकर, पृष्ठ १६४] ग्रीक राज्य के प्रदेश में किसी बौद्ध भिक्षु ने जाकर धर्म का उपदेश किया हो, ऐसा कहीं पढ़ने में नहीं आया (उसी पुस्तक का पृष्ठ १५६)।

(५) इंडि० एंटि०, पु० ३४, पृष्ठ १८३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है ? कदापि नहीं। असल बात तो यह है कि मौर्यवंशी राजाओं में सम्राट् अशोक ही केवल बौद्धधर्मी था, किंतु उसने किसी समय भी इन प्रांतों में धर्मोपदेशकों को नहीं भेजा[1] और न इन प्रांतों से उसका कोई संबंध ही था।

(१३) पाँचवें शिलालेख में बतलाया गया है कि राजा प्रियदर्शिन् के पाटलिपुत्र नगर एवं अन्यान्य स्थानों में भाई-बहन तथा अन्य पारिवारिक जन एवं अंतःपुर की रानियाँ और दास-दासी आदि थे। किंतु अशोक के विषय में यह बतलाया जाता है कि गद्दी पर बैठने से पहले—अर्थात् राज्याभिषेक से पूर्व—उसने अपने एक भाई को छोड़ शेष सभी का वध करवा दिया था,[2] जिससे वह निष्कंटक राज्य कर सके। इसके अतिरिक्त प्रिय-दर्शिन् के पुत्र एवं अन्य रानियों के पुत्रों का उल्लेख दिल्ली-टोपरा के स्तंभ-लेख नं० ७ में भी पाया जाता है। इन सबसे यही सिद्ध होता है कि ये सब लेख अशोक के नहीं हैं।

---

(१) (देखिए, इंडि० एंटि०, पु० ३४, पृष्ठ १८१) इतिहास के वर्णन को देखने से तो (यहाँ सभी प्रांतों का नकशा बनाकर नाम दिए गए हैं) दक्षिण भारत के स्वतंत्र राज्य चोल, पांड्य, सत्यपुत्र एवं केरलपुत्र तथा पाँचों यवन राज्य (शिलालेख में के) इनमें से किसी का भी नाम दृष्टिगोचर नहीं होता। यहाँ इतना जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि इस समय दक्षिण भारत सभ्य और सुसंस्कृत प्रदेश (आर्य देश) माना जाता है। अन्यथा ई० सन् की तीसरी-चौथी शताब्दी तक तो विंध्याचल से नीचे के सभी प्रदेश अनार्य माने जाते थे। इसी कारण जैसे अफगानिस्तान, ईरान, अरब, ग्रीस, सीरिया आदि अनार्य देशों में राजा प्रियदर्शिन् की ओर से धर्मोपदेशक भेजे जाने की बात लिखी गई है, वैसे ही दक्षिण के अनार्य देशों में भेजने का भी उल्लेख है।

(२) देखिए, केंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पु० १, पृ० ४७३ तथा इस लेख की टीका नं० २ (पृ० १५)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१४) ग्रीक ग्रंथकार मि० जस्टिन के सिद्धांतानुसार सेंड्रेकोट्स उर्फ चंद्रगुप्त का राज्य-शासन अन्याय-पूर्ण था; किंतु भारतीय इतिहास के कोई भी प्रमाण इस धारणा को पुष्ट नहीं करते।

इस कथन से ही वास्तविक स्थिति भली भाँति समझी जा सकती है कि किस प्रकार मेसर्स जस्टिन और स्ट्रेबो आदि यूरोपीय पुरातत्त्ववेत्ताओं ने सेंड्रेकोट्स को चंद्रगुप्त सिद्ध कर लोगों को उलटे रास्ते लगा दिया है। इसके बदले यदि हम सेंड्रेकोट्स को अशोक[1] मान लें (जैसा कि हम ऊपर सिद्ध कर चुके हैं) तो सब बातों का ठीक सिलसिला जम जाता है।

(१५) शिलालेखों में नीचे के शब्द जहाँ-तहाँ काम में लाए गए हैं, इनसे सिद्ध होता है कि इनका कर्ता चुस्त बौद्ध (अशोक) होने की अपेक्षा अधिकांश में कट्टर जैन ही होना चाहिए (प्रियदर्शिन् उर्फ संप्रति)।

(अ) **अनारंभ** (शिलालेख नं० ३, गिरनार के लेख, इंडि० ऐंटि०, पुस्तक ३७, पृ० २४)—जैन धर्म में सांसारिक कार्य का आरंभ करने के लिये हमेशा प्रतिबंध किया गया है। क्योंकि इस समग्र कार्य में हिंसारूप पापकर्म का जो उपार्जन होता है, उसका भोक्ता आदि प्रवर्तक ही माना जाता है और हिंसा से निवृत्त होना ही जैन धर्म का प्रथम सूत्र है।

(ब) **मंगलं + धर्म** उपसर्ग=धर्ममंगलं (शि० ले० नं० ८)—ये दोनों शब्द अलग अलग या एकत्र रूप से जैन धर्म में स्तुति, पद, संभाष्य अथवा सूत्र के अंत[2] में सामान्य रूप से काम में आते हैं

---

(१) ऊपर के पैरा नं० १४ के वर्णन से तुलना करने पर तथा उससे संबद्ध पादटीका से सेंड्रेकोट्स ही अशोक है, यह बात सिद्ध हो सकेगी।

(२) देखिए, इस लेख का अंतिम फुटनोट, (पृ० ६५)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और कहीं कहीं शुभ शकुन के रूप में प्रारंभ में भी इनका उपयोग किया गया है।

(क) देवानांप्रिय[1] (सभी लेखों में लिखा गया है)--इस शब्द का उपयोग बहुधा साधु महाराज, किसी भक्त जन को (श्रेष्ठि या राज्यपरिवार अथवा कोई उच्च पदाधिकारी हो तो उसे) उपदेश देते अथवा संबोधन करते समय ही सामान्य रूप से हमेशा करते आए हैं और आज भी करते हैं।

(ड) स्वामिता (गिरनार लेख नं० ३)—प्रो० पीटर्सन साहब ने[2] इसका अर्थ स्वजातिजन की रक्षा करना किया है, जिसे 'स्वामिवात्सल्यता' का नाम दे दिया गया है। जैन सांप्रदायिक शास्त्रों में जिन इनी गिनी वस्तुओं को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ है उनमें इस "स्वामिवात्सल्यता" का भी समावेश किया जा सकता है। इससे भी यही पता लगता है कि उनका लिखानेवाला जैन ही है। दूसरे इस शब्द का अस्तित्व भी बौद्ध धर्म में संभव नहीं है। क्योंकि उनमें तो भिक्षुक (Monk) और भिक्षिका (Nun) इन दोनों का मिलकर 'द्विविध संघ'[3] ही है। अर्थात् जब श्रावक और श्राविका तो उनमें हैं ही नहीं, तो फिर 'स्वामिवात्सल्यता' किस प्रकार संभव है ? 'मूलं नास्ति कुतः शाखा' ? जब जैन धर्म

---

(१) पति-पत्नी भी एक दूसरे को संबोधन करते समय 'देवानां प्रिय' और 'देवानुप्रिये' शब्द का उपयोग कर सकते हैं। (देखिए, कल्पसूत्र की सुखबोधिनी टीका, पृष्ठ ४७)।

(२) देखिए, "भावनगर के प्राचीन तथा संस्कृत शिलालेख" नामक पुस्तक।

(३) इस त्रुटि-युक्त संगठन के कारण ही (श्रावक-श्राविकाओं को संघ के अंगभूत नहीं माना गया, इसी से) खासकर बौद्ध धर्म की अवनति होने की बात डा० बरजेस और डॉक्टर फर्ग्युसन साहब भी मानते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में तो चतुर्विध संघ कहा है (जिनमें साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका इन चारों का समावेश होता है)।

(इ) पाखंड (शिलालेख नं० १३)—प्रो० एच० एच० विलसन साहब जोर देकर बतलाते हैं कि[1] यह शब्द बौद्ध धर्म का हो ही नहीं सकता।

(क) **'श्वेत'** (शिलालेख नं० १३) शब्द भी जैन संप्रदाय का है। यदि इसका अर्थ 'श्वेतांबर संप्रदाय' किया जाय तो राजा संप्रति उर्फ प्रियदर्शिन् के गुरु आर्य सुहस्ति[2] के समय में जैन धर्म के दो मुख्य विभाग करने की तैयारी हो रही थी—उन दोनों के नाम[3] आजकल विख्यात ही हैं—'श्वेतांबर और दिगंबर'। इनमें भी संप्रति राजा श्वेतांबर पंथ के अनुयायी थे[4]। अथवा दूसरा अर्थ श्वेत = सफेद हाथी[5] भी किया जाता है। (प्रो० फेर्ज साहब का मत

---

(१) ज० रा० ए० सो०, पु० १२, पृष्ठ २३६।

(२) भगवान् महावीर के दशम पट्ट (पीढ़ी) में ये सूरिजी हुए हैं। इनका सूरि पद महावीर संवत् २१७ से २९२ तक था। इनके बड़े भाई (गृहस्थावस्था एवं दीक्षा में) आर्य महागिरि जी के म० सं० २४९ में स्वर्गवासी होने पर संघ का भार इन्हीं को वहन करना पड़ा था।

(३) श्वेतांबर अर्थात् सफेद कपड़े पहननेवाले और दिगंबर (दिक्-दिशा रूपी कपड़े धारण करनेवाले अर्थात् जो नग्नावस्था में रहते हैं)।

(४) आर्य महागिरि जी बड़े थे और आर्य सूरि जी छोटे। महागिरि जी स्वयं जिनकल्पि आचार का पालन कराने के हिमायती होने पर भी दिगंबर मत के कहे जा सकते हैं। किंतु खास दिगंबर मत तो उनके कई वर्ष बाद स्थापित हुआ है; पर आरंभ उनके समय से ही माना जा सकता है, जब कि आर्य सुहस्ति जी समय के अनुसार रूढ़ि को बदल देनेवालों में से होने के कारण श्वेतांबर स्थिति में ही रहे और संप्रति राजा स्वतः भी इन्हें गुरु मानते थे।

(५) जैन पुस्तकें बतलाती हैं कि (कल्पसूत्र, सुखबोधिनी टीका, पृष्ठ ५८) जब किसी तीर्थंकर का जीव माता के उदर में गर्भ रूप में आता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और) इसका तात्पर्य यह बतलाता है कि जब भगवान् बुद्ध[1] स्वर्ग से च्युत होकर अपनी माता के उदर-गर्भ में आए तब स्वप्न में उनकी माता ने सफेद हाथी को अपने मुँह में प्रवेश करते हुए देखा था। (प्रो० फेर्ज साहब इस प्रसंग को बुद्ध भगवान् के संबंध में प्रयुक्त करते हैं। किंतु यदि यह बात इसी रूप में हो भी तो भगवान् महावीर के संबंध में ही यह अधिक संभवं जान पड़ती है।) जिन चौदह स्वप्नों को समस्त तीर्थंकरों की माताएँ गर्भ-संक्रमण के समय देखती हैं (और जिनमें प्रथम श्वेत हस्ती है) वे जैन धर्म में सुविदित ही हैं। (इसी प्रकार पर्युषण पर्व के समय नगर नगर और ग्राम ग्राम के उपाश्रयों में भाद्रपद शुक्ल प्रतिपदा के दिन भगवान् महावीर के 'जन्म वांचन' समय दर्शन के लिये प्रस्तुत किया जाता है, तथा रथ-यात्रा के जुलूस के साथ भी श्राविकाएँ अपने सिर पर रखकर नंगे पैर चलती हैं।) किंतु भगवान् बुद्ध की माता को ये स्वप्न दिखाई दिए थे या नहीं, यह शंकास्पद ही है।

(ग) **संबोधिमयाय** (शिलालेख नं० ८)—इस शब्द का अर्थ विज्ञ जनों ने यह किया है कि "जिस वृक्ष के नीचे भगवान् बुद्ध को

तब वह चौदह स्वप्न देखती है। चक्रवर्ती की माता भी चौदह, वासुदेव की माता सात और बलदेव की माता चार तथा प्रति वासुदेव की माता भी चार एवं किसी बड़े मांडलिक की माता एक स्वप्न देखती है। (इन चौदह में से ऊपर की किसी भी संख्या में स्वप्न देखे, क्रमबद्ध संख्याओं में ही देखने की कोई बात नहीं है) [इसी लेख की पादटीका नं० २ (पृ० ३३)]देखिए

(१) अधिक संभव तो यह जान पड़ता है कि राजा संप्रति जब अपनी माता के गर्भ में आए होंगे तब 'श्वेत हस्तिन्' को आकाश से उतरकर अपने मुख द्वारा शरीर में प्रविष्ट होते हुए उसने देखा होगा; इसी से उसने यह सूचित किया होगा कि आगे चलकर यह जीव कैसा निकलेगा। और जब उसका यथार्थ प्रभाव विदित हुआ तब राजा संप्रति ने शिलालेखों में 'हस्थिन्' की आकृति को पहचाना हो। [इसी लेख की पादटीका नं० १ (पृष्ठ १९) देखिए।]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वोत्कृष्ट ज्ञान की प्राप्ति हुई थी, उस बोधिवृक्ष के नीचे—छाया में जाकर"; किंतु यह भावार्थ असंगत है, जो कि उसके स्वरूप पर से ही कहा जा सकता है। लेकिन इसी के साथ साथ वे यह भी स्वीकार करते हैं कि सभी शिलालेखों में यदि किसी शब्द का अर्थ करने में सबसे अधिक कठिनाई होती हो तो वह केवल यही शब्द है। किंतु जैन धर्म में तो यह शब्द अत्यंत साधारण और निरंतर उपयोग में आनेवाला कहा जा सकता है और इसका अर्थ "सम्यक्त्वप्राप्ति=संपूर्ण श्रद्धा, सम्यग् दर्शन" होता है।

(१६) भाब्रा शिलालेख के—जिसे वैराट् का द्वितीय शिलालेख भी[1] कहा जाता है—आरंभ में ही अशोक को बुद्ध भगवान्, धर्म और संघ के प्रति भक्तिभाव प्रकट करनेवाला लिखा है। जिस प्रकार बौद्ध धर्म में त्रिपदी का स्वरूप वर्णन किया गया है, उससे भले ही कुछ विद्वान् इस अर्थ से सहमत हो सकते हों, किंतु यदि यही अर्थ किया जाता हो तो उसी लेख में आगे की पंक्तियों से उसका संबंध क्यों नहीं जुड़ता? साथ ही शिलालेखों एवं स्तंभलेखों में जिस धर्म का निरूपण है वह किसी भी रूप में बौद्ध धर्म नहीं हो सकता। इस प्रकार डॉ० फ्लीट को अंत तक विश्वास था, क्योंकि उनमें कहीं भी "बुद्ध" शब्द लिखा हुआ देखने में नहीं आता। इसी प्रकार "संघ" शब्द भी केवल एक ही बार आया है; और वह भी ऐसे एक तरफ कोने में कि जिसे इतना महत्त्व ही नहीं दिया जा सकता।

जैसी त्रिपदी का ऊपर निर्देश किया गया है, वैसी ही जैन संप्रदाय में भी "सुदेव, सुगुरु, सुधर्म" इन तीन तत्त्वों से बनी हुई 'रत्नत्रयम्' कहलाती है। साथ ही सम्यक् दर्शन=सम्यक्त्वप्राप्ति=बोधि-बीज की प्राप्ति के लिये प्राथमिक आवश्यकता या पहली सीढ़ी के रूप में उसकी गणना की गई है।

---

(१) ई० रा० भांडारकर-कृत राजा अशोक, पृष्ठ ७३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१७) प्रो० हुल्ट्श साहब की यह धारणा है कि स्तंभलेख[1] नं० ३ में जो मलिन विकृति के स्वरूप और मनोविकार तथा आश्रव [(पाप) आसि नवगामिनी जातम] की टिप्पणी दी गई है, उसका और बौद्ध धर्म में वर्णित 'आसिव' एवं 'क्लेश' का कोई मेल नहीं बैठता।

(१८) सांप्रत काल में जिस प्रकार मनुष्य-कल्याण के लिये औषधालय और पशु-कल्याण के लिये पिंजरापोल खुले हुएं हैं, उसी प्रकार की द्विविध संस्थाएँ राजा प्रियदर्शिन् द्वारा स्थापित की जाने का उल्लेख जिस शिलालेख में मिलता है, वह भी यही सिद्ध करता है कि अशोक (अथवा शिलालेख का कर्ता) स्वत: बौद्ध नहीं वरन् जैन ही था और जो साहित्य आज बौद्ध धर्म में अस्तित्व रखता है, उसके अनुसार अशोक का चरित्र भी इस तरह का नहीं है। इसलिये यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि वे सब कृतियाँ अशोक की नहीं, वरन् अन्य पुरुष और वह भी जैन धर्मानुयायी प्रियदर्शिन् की हैं।

(१९) देवविमान हस्थिन् अग्निस्कंध आदि के दृश्य[2] प्रजा को आनंद देने के निमित्त राजा प्रियदर्शिन् ने दिखाने की व्यवस्था की थी[3]। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि जिन १४ स्वप्नों की बात

---

(१) देखिए इंस्क्रिपशन कारपोरम् इंडिकेरम् पुस्तक प्रथम, जैनधर्म में १८ पाप स्थानक वर्णन किए गए हैं—(१ प्राणातिपात, २ मृषावाद, ३ अदत्तादान, ४ मैथुन, ५ परिग्रह, ६ क्रोध, ७ मान, ८ माया, ९ लोभ, १० राग, ११ द्वेष, १२ कलह, १३ अभ्याख्यान, १४ पैशुन्य, १५ रति-अरति, १६ पर-परिवाद, १७ मायामृषावाद, १८ मिथ्यात्वशल्य।)

(२) चौदह स्वप्नों के नाम (कल्पसूत्र—सुखबोधिनी टीका, पृ० १०)—हाथी, वृषभ (बैल), सिंह, लक्ष्मी माता, पुष्पमाला, चंद्र, सूर्य, ध्वजा, कलश, पद्मसरोवर, समुद्र (क्षीरसागर), विमान अथवा भुवन, रत्नराशि तथा अग्निशिखा (इस पर टीका नं० ५ (पृ० ३०) देखिए)।

(३) देखिए, शिलालेख नं० ४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम ऊपर (पैरा नं० १४ में) दिखला चुके हैं, उन्हीं से यह संबंध रखती है। जिस प्रकार श्रावकों को उसके दर्शन कराए जाते हैं, उसी प्रकार राजा प्रियदर्शिन् ने भी सारी प्रजा को उसका दर्शन कराने की योजना की होगी। इसमें भी दो उद्देश्य गर्भित जान पड़ते हैं। प्रथम तो यह कि लोगों का मनोरंजन हो और समय का सदुपयोग हो सके तथा ठाले बैठकर लोग दुर्गुणों में प्रवृत्त होने से बचें और दूसरा प्रधान हेतु यह कि अपने धर्म के विषय में लोगों में श्रद्धा उत्पन्न हो।

(२०) स्तंभलेख नं० ५ में पक्षियों के वध, जलचर प्राणियों के शिकार तथा गोधाओं को खस्सी करने आदि अनेक प्रकार की हिंसा के लिये निषेध करनेवाले जिन छप्पन दिनों[1] की गणना कराई गई है (जैसे कि चातुर्मासि पोसह[2] आदि) वे सब जैन धर्म का ही महत्त्व सूचित करनेवाले हैं। क्योंकि जैन धर्म में अष्टमी तथा चतुर्दशी का जैसा माहात्म्य माना जाता है, वैसा न तो बौद्ध धर्म में है और न ब्राह्मण धर्म में[3]। इसी प्रकार बारह महीने की तीन ऋतुओं के अंत में आठ आठ दिन की अट्ठाई, जिसे चातुर्मास कहा जाता है (जिस प्रकार कि कार्तिक चौमासा, फाल्गुन चौमासा

---

(१) सम्राट् अकबर और हीरविजय सूरि नामक ग्रंथ में जिन दिनों में हिंसा न करने विषयक फर्मान सूरि महाराज ने सम्राट् अकबर से प्राप्त किया था, उन दिनों के साथ मिलान कीजिए (शाही फर्मान छः प्राप्त किए हैं वे) तथा वैराट नगर के पार्श्वनाथ मंदिर में के शिलालेख में १०६ दिन (ऑ० लॉ० सर्वे, वेस्टर्न सर्कल, कनिंगहम्) १९१०; प्राचीन जैन लेख-संग्रह भाग दूसरा, खंड तीसरा, नं० ३७९।

(२) देखिए, शिलालेख नं० २।

(३) मेरी समझ से ब्राह्मण धर्म में चतुर्दशी की अपेक्षा एकादशी का माहात्म्य ही विशेष माना जाता है। बौद्ध धर्म में कौन सी तिथि है, यह मैं नहीं जानता। किंतु यह तो निश्चित ही है कि जैनधर्म की मान्यता से वह सर्वथा भिन्न ही होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और आषाढ़ चौमासा), पूर्णतः प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त आयंबिल की दो पंक्तियाँ (ओलियाँ) आती हैं (आश्विन और चैत्र मास में) तथा पर्यूषण पर्व की अठाई भी आती है। ये सब जैन धर्म के पवित्र दिन माने जाते हैं और इन दिनों में किसी भी प्रकार की हिंसा होने से रोकने का प्रयत्न करना आवश्यक है तथा यह जैन धर्म के भक्त प्रियदर्शिन् राजा का प्रथम कर्तव्य माना जा सकता है।

(२१) नीचे लिखे शब्द जैन धर्म के ही पारिभाषिक शब्द हैं—पचूपगमन[1] [संस्कृत शब्द प्रत्युपगमन] (स्तंभलेख नं० ६) कल्याण और पाप इन दो शब्दों के अर्थ का अंतर (शिलालेख नं० ५) पंचगुति[2] [वाचागुप्ति अथवा वचनगुप्ति] (शिलालेख नं० १२ तथा ७) तथा इन शब्दों के स्थान पर 'संयम' और 'भावशुद्धि' का प्रयोग किया गया है, आसिनव [आश्रव] (शिलालेख नं० १०, स्तंभलेख नं० २) समवाय (शिलालेख नं० १२) निझपयि संति (स्तंभलेख ४) भदंत (बाभ्रा लेख) थेरा[3] [दे० रा० भांडारकर, पृष्ठ ९८] ये शब्द[4] अन्य धर्मों में उपयोग में आते नहीं दिखाई देते।

(२२) आसिनव (आश्रव) पाप प्राण, भूत, जीव, सत्त आदि सभी समानार्थी शब्दों की जोड़ी के विषय में भी दे० रा० भांडारकर

---

(१) "प्रतिक्रमण" शब्द के साथ मिलान कीजिए।

(२) आठ प्रवचन माताएँ गिनाई गई हैं—पाँच समिति + तीन गुप्ति = आठ ! इनमें तीन गुप्तियों के नाम हैं मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति।

(३) बौद्ध धर्म में भिक्षुक शब्द का प्रयोग होता है—दे० रा० भांडारकर-कृत अशोक, पृ० ९८।

(४) पैरा २१ में बतलाए हुए इस शब्द के अर्थ का स्पष्टीकरण करने का यह स्थान नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहते हैं कि[1] इस विचित्र 'आसिन' शब्द (स्तंभलेख नं० ३) का अर्थ क्या होगा। सेनार्ट साहब ने उसे 'पाप' शब्द के साथ जोड़कर क्यों लिखा होगा? बौद्ध दर्शन-शास्त्र में पाप और आश्रव इन दो शब्दों का भेद कहीं भी बतलाया नहीं गया। इसी प्रकार प्राण और भूत के बीच का भेद भी कहीं वर्णन नहीं किया गया है। किंतु जैन दर्शन में इन सब शब्दों के बीच का अंतर भली भाँति समझाया गया है। साथ ही 'जीव' और 'सत्त'-विषयक भेद भी समझाया गया है। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि ये सब शब्द जैन-सांप्रदायिक हैं और इसलिये इनका लिखवानेवाला जैन होना चाहिए।

(२३) प्रो० हुल्ट्श साहब यों निवेदन करते हैं कि बौद्धमत की तत्त्वविद्या में देवविद्या और आत्मविद्या-विषयक जो विकासक्रम बतलाया गया है उसमें, और शिलालेखों की लिपि में 'धम्मपद'[2]-विषयक जो विकासक्रम लिखा गया है अत्यधिक अंतर है। उनमें 'निर्वाण' के सदृश कोई सिद्धांत ही दृष्टिगोचर नहीं होता। किंतु इस संसार में अच्छे कार्य किए जाने से उनके फल-स्वरूप दूसरे जन्म में विशेष सुख[3] मिलने विषयक हिंदू धर्म का जो सामान्य सिद्धांत है, उसी से मिलता-जुलता ही बौद्ध धर्म का सिद्धांत भी है। किंतु अशोक ने तो दूसरे जन्म में सुख प्राप्त होने की बात लिखने के बदले बारंबार 'स्वर्ग'[4] शब्द का प्रयोग किया है। और

---

(१) देखिए, दे० रा० भांडारकर कृत "अशोक" नाम की पुस्तक, पृ० १२७, १२८, १३०।

(२) कोर० इंस्क्रिप्शन् इंडिके०, पु० १ (अशोक के शिलालेख), पृ० XLVII.

(३) देखिए, शिलालेख नं० ९, १०, ११ और १३; धौली के जुदे लेख नं० १ और २; स्तंभलेख नं० १, ३, ४ और ७।

(४) देखिए, रूपनाथ, सहसराम और वैराट के शिलालेख, ब्रह्मगिरि और सिद्धपुर के शिलालेख नं० ६ और ९, धौली के शिलालेख नं० १ और २।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धम्मपद, स्वर्ग तथा निर्वाण का भिन्न भिन्न अर्थों में प्रयोग किया है।

यदि किसी भी दर्शन में स्वर्ग (देवलोक जहाँ जीव को सीधा मोक्ष प्राप्त हो ही नहीं सकता और संसार-भ्रमण शेष रह जाता है) और मोक्ष (जहाँ जाने पर जीव को बारंबार जन्म धारण नहीं करना पड़ता; अर्थात् संसार का अंत ही मोक्ष है) इन दो शब्दों के बीच का भेद बतलाया गया हो तो वह केवल जैन दर्शन ही हो सकता है। इससे भी यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि शिलालेखों की धम्म-लिपि की समग्र रचना ही जैन धर्म के अनुसार खोदी गई है।

(२४) तिब्बत देश के ग्रंथों में लिखा गया है[1] कि संप्रति पादशाह (उन ग्रंथों में संप्रति के बदले "संवादि" शब्द लिखा गया है) म० सं० २३५ में सिंहासनासीन हुआ था। दिव्यदान[2] नामक ग्रंथ में मगध देश के राजाओं की जो क्रमबद्ध तालिका दी गई है उसमें भी इस[3] संप्रति को अशोक का पौत्र और कुणाल का पुत्र बतलाया गया है।

(२५) प्रो० पिशल साहब की दृढ़ सम्मति है कि रूपनाथ, सहसराम और वैराट के शिलालेख भी संप्रति महाराज के ही खुदवाए हुए हैं। इस अभिप्राय के साथ प्रो० रीज डेविस सा०[4] भी सहमत हैं।

(२६) शिलालेख नं० ८ मुख्यतः शिकार को बंद करने से संबंध रखता है, और अपने राज्याभिषेक के बाद दसवें वर्ष खुदवाया

---

(१) इंडि० ऐंटि०, पुस्तक ३२, पृष्ठ २३०।

(२) वही, १९१४, पृ० १६८ का फुटनोट नं० ६७ (प्रो० जे० एन० कार्पेंटर)।

(३) इसी लेख का प्रमाण नं० ११ और नोट नं० २ (पृ० २६)।

(४) इंडि० ऐंटि०, पु० ६, पृष्ठ १४९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया है। अंत: यदि वह सम्राट् अशोक के समय का होता तो वह खुद ही उस समय पशुओं का शिकार बंद कराने के बदले मनुष्य-संहार करने में निमग्न क्यों रहता[1] ? मनुष्य-घृणा के कारण ही उसने एक नरकालय नाम का स्थान निर्माण किया था और उस मार्ग से यदि कोई मनुष्य निकल जाता तो फिर वह, भले ही अपराधी हो चाहे सर्वथा निर्दोष, या तो फाँसी के तख्ते पर लटका दिया जाता या गर्म तेल की कड़ाही में डालकर मार डाला जाता था। जहाँ स्वयं सम्राट् की मनोदशा इस प्रकार की हो, उससे यह आशा करना कि उसकी ओर से शिकार के निषेध का फर्मान निकाला जायगा—बिलकुल मूर्खतापूर्ण ही कहा जायगा। उसमें भी फिर जो बौद्ध धर्म का परम भक्त हो, जिसमें कि—यदि मेरी भूल न हो तो—मृगया में मारे हुए प्राणियों के मांस को आनंदपूर्वक उदरस्थ करने का विधान हो—उसकी ओर से यह आशा करना सर्वथा मूर्खतापूर्ण ही कहा जायगा[2]। ये सब बातें हमें इसी अंतिम परिणाम पर पहुँचने के लिये बाध्य करती हैं कि इन शिलालेखों का कर्ता कोई बौद्धमतानुयायी नहीं वरन् जैन ही हो सकता है; और वह दूसरा कोई नहीं वरन् खुद राजा प्रियदर्शिन् ही होना चाहिए, जिसने राज्याभिषेक होने के पश्चात् नवें (श्रावक के) आठ व्रत[3] ग्रहण किए थे।

---

(१) पादटीका नं० २ (पृ० १५) से इसकी तुलना कीजिए।

(२) डा० शाह महोदय के इस विचार से हमारा मतभेद है। क्योंकि सम्राट् अकबर यद्यपि यवन थे, मांसाहारी थे, उनके धर्म—उनकी जाति—में मांसाहार जायज था, तो भी सूरीश्वर हीरविजय जी के उपदेशों से प्रभावित होकर उन्होंने सारे साम्राज्य में ५ दिन वध-निषेध की आज्ञा प्रचारित कर दी थी। इस उदाहरण से स्पष्ट है कि अशोक यदि बौद्धधर्मावलंबी होकर भी शिकार-निषेध की आज्ञा निकाल देता था तो इसमें कोई आपत्ति या आश्चर्य नहीं है। उसे जैन होने की जरूरत नहीं थी।

(३) आगे का २७वाँ पैराग्राफ देखिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२७) संप्रति राजा की जीवनी के विषय में जैन ग्रंथों में[1] निम्न प्रकार से उल्लेख मिलता है—दिग्विजय करके वापस लौटने के बाद एक दिन जब वह अपने महल के गवाक्ष में बैठा था, उस ओर से जीवंत स्वामी की रथयात्रा का जुलूस निकला। उस रथ के ऊपरी भाग पर दोनों[2] सूरि महाराज चल रहे थे। उन्हें देखकर विचार करने पर जाति-स्मरण-ज्ञान होने से अपने पूर्व जन्म का दृश्य देखते ही राजा को मूर्च्छा आ गई। इसके बाद मंत्रियों द्वारा वायु-प्रक्षेप आदि शीतोपचारों से वह सचेत हुआ और तत्काल ही महल से नीचे आकर उसने गुरु महाराज की तीन प्रदक्षिणा करने के बाद प्रणाम करते हुए पूछा—"भगवन्, क्या आप मुझे पहचानते हैं?" तत्काल ही सूरि महाराज ने ज्ञान के बल पर उसे अपने क्षुल्लक शिष्य के रूप में पहचान लिया। राजा को गुरुवचन पर श्रद्धा हुई और उसने तत्काल ही जैन धर्म स्वीकार कर लिया। इसके दो वर्ष बाद उन्होंने कलिंग देश जीता और व्रत उच्चारण किए। फिर सम्यक्त्वधारी श्रावक बनकर संघ सहित वे तीर्थयात्रा के लिये रवाना हुए। कुएँ बनवाए, धर्मशाला और दानशाला आदि स्थापित कीं, अनेक मंदिर-निर्माण कराए, जैन बिंबों को भराया और अंजन-शलाका कराई। इसी प्रकार अनेक शुभ कार्य संपन्न किए।

इन सब बातों के लिये किसी प्रकार के प्रमाण या टीका अथवा स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। शिलालेखों में लिखित समस्त वर्णन से भी उसका समर्थन होता दिखाई देता है।

---

(१) हेमचंद्र सूरि का "परिशिष्टपर्व", महान् संप्रति नामक उनका जीवनचरित्र तथा भरतेश्वर बाहुबलवृत्ति आदि ग्रंथ देखिए।

(२) आर्य महागिरिजी और आर्य सुहस्ति दोनों ही, सांसारिक दृष्टि से, सगे भाई थे और दीक्षावस्था में गुरुभाई थे। विशेष के लिये देखिए, टाका नं० २—३ और ४ (पृ० ३०)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(शिलालेख नं० ८ में) उनके राज्याभिषेक के बाद नवें वर्ष आठ व्रत[1] ग्रहण करने की बात लिखी है। इससे पहले एक वर्ष तक वे संघ के साथ रहे और इसके पूर्व ढाई वर्ष उन्होंने उपासक के रूप में व्यतीत किए थे। अर्थात् उन्होंने राज्याभिषेक होने के (१० वर्ष में से १ + २½ = ३½ घटाने पर शेष ६॥ वर्ष) ६॥ वर्ष बाद जैनधर्म में प्रवेश किया था।

आगे चलकर फिर उनकी जीवनी के विषय में लिखा है कि[2] उन्होंने अपनी युवावस्था में भारत के समस्त राजाओं को करदाता बना दिया; और अष्टक के निकट आकर सिंधु नदी पार करने के बाद अफगानिस्तान के मार्ग से ईरान, अरब और मिस्र आदि देशों[3] पर अधिकार किया और उनसे 'कर' लिया। इसके बाद वापस लौट आए। उस समय आचार्य महाराज भी विचार के लिये उज्जयिनी पधारे थे; अतः उनसे व्रतों की दीक्षा लेकर सम्यक्त्व-व्रतधारी श्रावक बने। ये बातें भी शिलालेखों के वर्णन से ज्यों की त्यों मिल जाती हैं।

(२८) पुरातत्त्व-विभाग के असि० डाइरेक्टर-जनरल स्व० पी० सी० बनर्जी लिखते हैं कि[4] ये सब शिलालेख, जिनमें

---

(१) श्रावक के बारह व्रत हैं। उनमें पाँच गुणव्रत, तीन अणुव्रत और चार शिक्षाव्रत होते हैं। किंतु इनमें शिक्षाव्रत ही ऐसे हैं जिनका पालन सांसारिक गृहस्थों से भली भाँति हो सकता है। राज्यकर्ता के लिये दुस्साध्य होने से संप्रति ने आठ ही व्रत ग्रहण किए थे।

(२) उपर्युक्त ग्रंथ की टीका नं० ११७ देखिए।

(३) इसी लेख के पैरा नं० ७ और नं० २९ से मिलान कीजिए।

(४) इंडि० ऐंटि०, पृष्ठ ३२ पर उक्त महाशय प्रश्नावली उपस्थित करते हैं कि (१) यदि सभी शिलालेख महाराज अशोक के होते तो उनमें से किसी में भी क्यों उन्होंने अपना नाम नहीं लिखा ? (२) प्रियदर्शिन् ने राज्याभिषेक के नौ वर्ष बाद व्रत लिए थे, ऐसी दशा में यदि उक्त वर्णन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यवन राजाओं के नाम का अंगुलि-निर्देश किया गया है, किसी भी रूप में सम्राट् अशोक (द्वितीय)[1] के बनाए हुए नहीं हो सकते। अधिक संभव तो उसके पौत्र राजा संप्रति के बनाए हुए होना ही है, जिसने जैनधर्म स्वीकार कर अपने पितामह का पदानुसरण करते हुए शिलालेख खुदवाए होंगे और चंद्रगुप्त=चंद्र- रक्षित तो केवल उसका उपनाम ही जान पड़ता है।

(२९) 'सम्राट् संप्रति' शीर्षक ग्रंथ में लिखा है कि "सिंधु नदी के उस पार[2] के उन सरदारों को जीतकर—जिन्हें सम्राट् अशोक भी अपने अधीन नहीं कर सका था—'कर' वसूल किया था। जिस प्रकार अजातशत्रु राजा के अधीन १६००० करद राज्य थे, उसी प्रकार इनकी संख्या भी उतनी ही थी। इसी प्रकार जब वे दिग्विजय कर स्वदेश वापस लौटे तब सम्राट् अशोक के मुँह से ये उद्गार निकले कि "मेरे पितामह चंद्रगुप्त तो केवल भारत के ही सम्राट् थे, किंतु मेरा पौत्र संप्रति तो संसार भर का सम्राट् है"।

इन शब्दों से चंद्रगुप्त, अशोक और प्रियदर्शिन्, इन तीनों के राज्य-विस्तार-मापन का साधन मिल सकता है।

अशोक से सम्बन्ध रखता हो तो उसने राज्याभिषेक से छः मास पूर्व और गद्दी पर बैठने के चौथे वर्ष बौद्ध धर्म में प्रवेश किया होगा। (३) यदि दूसरा धर्म-परिवर्तन कहा जा सकता हो तो राजा प्रियदर्शिन् ने मगध संघ-यात्रा अपने राज्य के दसवें वर्ष की थी, जब कि मोग्गल-पुत्र के नेतृत्व में तीसरी बौद्ध-कौंसिल अशोक-राज्य के सत्रहवें वर्ष हुई थी। इन सब कारणों से वे अशोक के शिलालेख नहीं हो सकते।

(१) शिशुनाग-वंशी कालाशोक उर्फ महापद्म को प्रथम अशोक कहा जाता है, जिसका शासन-काल ई० पू० ४५४ से ४२६ तक था। देखिए शिशुनाग वंश की वंशावली विषयक मेरा लेख टीका १६-१७, पृ० २।

(२) इसी लेख के पैरा नं० ७ तथा पैरा नं० २७ से मिलान कीजिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३०) ऊपर के कुछ मुद्दों की चर्चा के परिणाम-स्वरूप हमें यह विश्वास होता है कि संप्रति और प्रियदर्शिन् दो भिन्न व्यक्ति नहीं थे। ऐसी दशा में संप्रति का नाम प्रियदर्शिन् क्यों पड़ा, इस बात के जान लेने की भी आवश्यकता है। इसका इतिहास संक्षेप में इस प्रकार है—

"प्रियदर्शिन् के पिता कुणाल सम्राट् अशोक के लाड़िले पुत्र थे। साथ ही वे ज्येष्ठ पुत्र होने तथा अत्यंत चालाक और उज्ज्वल कीर्ति प्राप्त करनेवाले दिखाई देने से "युवराज" नियुक्त कर दिए गए थे। महाराज अशोक ने उन्हें लालन-पालन के लिये अपने भाई के संरक्षण में अवंति (उज्जयिनी) में रख दिया था; क्योंकि अशोक को सदैव यह शंका बनी रहती थी कि ऐसा न हो कि पटरानी तिष्यरक्षिता कुमार कुणाल की जिंदगी को खतरे में डाल दे या कोई षड्यंत्र रचकर उसे मरवा डाले, जिससे उसके पुत्र महेंद्र को गद्दी मिल सके। अंत को अशोक का संदेह यथार्थ ही सिद्ध हुआ।

उस समय राजपरिवार की सारी चिट्ठी-पत्रियाँ विशेष दूतों (पत्र-वाहकों) के हाथ भेजी जाती थीं। जब कुमार कुणाल की अवस्था शासन-कार्य का अनुभव प्राप्त करने योग्य हुई तब अशोक ने सोचा कि कुमार को अब इस विषय की शिक्षा दी जा सके तो बड़ा अच्छा हो। इसी लिये सम्राट् अशोक ने अपने भाई को—जिसकी देख-रेख में कुमार कुणाल रखा गया था—विशेष पत्र लिखकर सूचित किया कि कुणाल को राजकाज की शिक्षा दी जाय।...यह पत्र अशोक ने लिखकर समाप्त तो कर दिया, किंतु इसी बीच कोई आवश्यक कार्य आ जाने से उस पर सही-सिक्का और सील-मुहर करने से पहले ही उठकर वह बाहर चला गया। इधर दैवात् रानी तिष्यरक्षिता वहाँ आ पहुँची और उस खुले पत्र को देखकर चौंकी। उसने पत्र को उठाकर पढ़ा और मनचाहा दाँव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अचानक हाथ लग जाने से उसने उससे लाभ उठा लिया। पास ही पड़ी हुई बुहारी की सींक उठाकर उसने अपनी आँख में फिराई और उसमें लगे हुए काजल से पत्र में जहाँ "अध्ययन" शब्द लिखा था उसमें 'अ' के सिर पर अनुस्वार लगाकर* अध्ययन अर्थात् विद्याभ्यास कराने के बदले उसे 'अंध्ययन' अर्थात् अंधा कर देने की आज्ञा बना दिया। वह इस आशय से कि यदि कुणाल अंधा हो जायगा तो महेंद्र को राजगद्दी मिल सकेगी। इसके बाद वह तत्काल वहाँ से चली गई। उधर महाराज अशोक जैसे ही अपने कार्य से वापस लौटे कि उन्होंने जल्दी-जल्दी में उस पत्र को बिना फिर से पढ़े ही हस्ताक्षर करके, सील लगाकर, दूत के हाथ अवंतिका भेज दिया। दूत के पहुँचने पर उस पत्र का क्या परिणाम हो सकता था, इसकी कल्पना की जा सकती है। अवंतिका के दरबार में जैसे ही वह पत्र खोलकर पढ़ा गया कि सबके चेहरों पर स्याही फिर गई। राजपुत्र के संरक्षक महाराज अशोक के भाई तो तत्काल समझ गए कि यह सब केवल राजकीय विवाद का ही परिणाम होना चाहिए। किंतु अपने पिता के शाही फर्मान की तामील करने के लिये तत्काल ही राजकुमार कुणाल ने आग में तपकर लाल सुर्ख बने हुए लोहे के दो सरिए मँगाए और उन्हें अपने हाथों से ही अपनी आँखों में चुभा लिया; वह स्वयं अंधा हो गया। दूत के वापस जाने पर जब यह समाचार पाटलिपुत्र

---

* मूल वर्णन में "इदानीमधीयतां कुमारः" इस प्रकार का वाक्य है; इसमें केवल 'म' पर अनुस्वार लगा देने से "इदानीमंधीयतां कुमारः" पढ़ा गया। अर्थात् पहले वाक्य के अनुसार "अब कुमार को अध्ययन कराया जावे" का आशय था, उसके बदले "अब कुमार को अंधा कर दिया जाय" का आदेश कर दिया गया। अतएव पिता की आज्ञा का पालन करने के लिये विवेकशील कुमार स्वयं ही अंधा हो गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहुँचा तो सम्राट् अशोक इसे सुनकर बड़े दुखी हुए और अपनी भूल पर पछताने लगे।

इधर कुणाल के अंधा हो जाने से राज्यगद्दी पर उसका अधिकार न रह सका। वयस्क होने पर उसका विवाह भी कराया गया और अपने जीवन को सुखमय बनाने के लिये उसने संगीत कला का अभ्यास आरंभ किया। कुछ ही समय में वह संगीत-विशारद हो गया। ठीक उसी अवधि में उसके यहाँ पुत्र का जन्म हुआ। अतएव अपनी धाय माता (धात्री) की सलाह से (जो जन्मदात्री माता की प्रसूतावस्था में स्वर्गवासिनी हो जाने से कुणाल के द्वारा जन्मदात्री माता के समान ही सम्मानित होती थी) उसने सम्राट् अशोक के पास जाकर अपने संगीत द्वारा उसे रिझाकर 'वर' माँगने का अवसर आने पर अपने बालकुमार के लिये काकिणी-राज्य माँगने का निश्चय किया और वह पाटलिपुत्र की ओर चल दिया। यथासमय उसने वहाँ पहुँचकर प्रथमतः अपने संगीत द्वारा सबके चित्त को हरण कर लिया। यह समाचार महाराज के कानों तक पहुँचा और उनके चित्त में संगीत सुनने की इच्छा हुई। किंतु उस समय यह प्रथा थी कि राजपुरुष स्वयं किसी अंधे व्यक्ति को अपने सामने बुलाकर उसका संगीत नहीं सुन सकता था। अतएव उसे पर्दे की आड़ में बिठलाकर संगीत सुनने का निश्चय किया गया। गायक के मधुर स्वर एवं संगीत-ज्ञान से सम्राट् बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने वर माँगने को कहा। फलतः उसने वर में "काकिणी" माँगी। महाराज समझे कि यह काच का टुकड़ा माँगता है; क्योंकि इस शब्द का सामान्य अर्थ यही होता है। किंतु जब वहाँ एकत्र समस्त राजपुरुषों और कर्मचारियों ने बतलाया कि वह राज्य (काकिणी का वास्तविक अर्थ) माँग रहा है, तब महाराज ने उससे पूछा कि "तुझे राज्य लेकर क्या करना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं ?" इसके उत्तर में उसने एक मार्मिक गीत सुनाया, जिसका अर्थ यह था कि "मैं स्वयं महान् सम्राट् चंद्रगुप्त के वंश का सीधा वारिस हूँ और अपने पुत्र कुमार के लिये राज्य की माँग करता हूँ।" इन शब्दों को सुनते ही महाराजा अशोक ने उस गायक के रूप में तत्काल अपने परम प्रिय पुत्र कुणाल को पहचान लिया, जिसने केवल पितृ-आज्ञा शिरोधार्य कर अपने हाथों से ही अंधत्व स्वीकार कर लिया था। उसी क्षण पर्दा हटाकर, चिर-वियोग के पश्चात्, हर्षाश्रु-युक्त नेत्रों से उसने अपने पुत्र को गले लगा लिया और पूछा कि पुत्र की प्राप्ति कब हुई। इस पर कुणाल ने उत्तर दिया कि "संप्रति"[1] [इस संस्कृत शब्द का अर्थ होता है, हाल ही में, अभी ही; क्योंकि उस समय कुमार की अवस्था केवल छः मास की ही थी]। अपने पौत्र के शुभ जन्म का सुखद समाचार सुनकर महाराज अशोक ऐसे हर्षोन्मत्त हुए कि (एक तो दीर्घ काल के पश्चात् पुत्र-वियोग दूर होने के कारण आनंद ही आनंद छा रहा था, उसमें भी फिर पौत्र-जन्म का शुभ समाचार पाने पर तो पूछना ही क्या था ?) उन्होंने वहीं प्रधान मंत्री को आज्ञा दी कि शीघ्र ही अवंति जाकर एक राजवंशी अथवा राज्यकर्ता के योग्य समारोह के साथ बाल कुमार को ले आओ और मगधपति के रूप में उसे सिंहासन पर बिठाओ। (संप्रति का जन्म ई० पू० ३०४, जब संप्रति गद्दी पर बिठाया गया तब उसकी अवस्था दस मास की थी (ई० पू० ३०४) और उस शुभ प्रसंग के अनुसार महाराज ने कुमार का नाम प्रियदर्शिन्[2] रखा; क्योंकि

---

(१) देखिए नीचे की टिप्पणी नं० २।

(२) इससे यह स्पष्ट होता है कि राजा प्रियदर्शिन् ने अपने पिता के प्रेम के चिह्नस्वरूप उनका रखा हुआ नाम भी सुन रखा है। इसी प्रकार राजकाज में अपने पितामह की गद्दी पर बैठने के स्मारकरूप उनका दिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके मुख के दर्शन मात्र से ही महाराज अशोक को आनंद, सुख और हृदय-शल्य से मुक्ति प्राप्त हुई थी। कारण यह था कि उस समय तक वे अपने को ही कुणाल के अंधत्व के लिये कारणीभूत मानकर सदा उद्विग्न रहते थे और इसी लिये कुणाल के साथ किए गए अन्याय का किसी अंश में परिमार्जन करने के उद्देश्य से उन्होंने उसके पुत्र को गद्दी पर बिठाया। इसी के साथ साथ उन्होंने यह कहकर अपने मन को संतुष्ट किया कि मैंने जो भूल की थी, उसका दंड भी मैंने अपने हाथों भोग लिया। उस समय से लेकर संप्रति कुमार के १५ वर्ष की अवस्था में पहुँचने (ई० पू० २९०-८९) तथा उनका राज्याभिषेक होने तक महाराजा अशोक ने उनके संरक्षक के रूप में शासन की व्यवस्था की।

इससे प्रत्येक मनुष्य समझ सकता है कि 'प्रियदर्शिन्' एक विशेष नाम है, विशेषण नहीं[1]। अभी तक कहीं भी यह पढ़ने में नहीं आया कि किसी पुरातत्त्व-विशारद ने प्रियदर्शिन् शब्द के विषय में—जो प्रत्येक शिलालेख में सर्वत्र प्रयुक्त हुआ है—

हुआ नाम सुरक्षित रखकर बारंबार शिलालेखों में उसका उपयोग किया। इन दोनों बातों से इसके पुष्ट प्रमाण मिल जाते हैं कि वह अपने पिता और पितामह के प्रति कितना भक्तिभाव रखता था। जब राजगुरु ने राशि के हिसाब से राज्यगद्दी के अनुकूल उसका नाम 'दशरथ' बताया होगा, तो उसने कदाचित् अपने पितामह के अवसान के पश्चात् नागार्जुन की गुफा में खुदवाया होगा। यदि यह अनुमान यथार्थ हो तो नागार्जुन की गुफा का समय ई० पू० २०० के बाद माना जाता है। (देखिए इस लेख की पादटीका नं० १ (पृ० २६)) किंतु इस निर्णय पर पहुँचने के बाद विशेष अध्ययन करने पर यह मालूम हुआ है कि दशरथ भी अशोक का पौत्र था और प्रियदर्शिन् के अधीनस्थ उड़ीसा प्रांत का सूबेदार था। सारांश, प्रियदर्शिन् और दशरथ ये दोनों भिन्न व्यक्ति थे।

(१) इंडियन ऐंटि०, पु० ३१, पृ० २३३ पर मि० पी० सी० मुकर्जी की टिप्पणी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस बात की खोज की हो कि वह विशेष नाम है या महाराज अशोक का उपनाम।

(३१) अशोक के सभी शिलालेख सिकंदरशाह के समय[1] से लगभग ८० वर्ष बाद के सिद्ध होते हैं; और इस गणना से उनका समय ई० पू० ३२३—८०=ई० पू० २४३ वर्ष आता है। किंतु महाराजा अशोक की मृत्यु तो ई० पू० २७० में ही हो चुकी थी, ऐसी दशा में वे शिलालेख अशोक के बनवाए हुए हो ही नहीं सकते। अतएव सम्राट् संप्रति का समय इस प्रकार निश्चित होता है:—

जन्म ई० पू० ३०४ (पौष मास—जनवरी) अवस्था ० मास
गद्दीनशीनी " ३०३— " १० मास
राज्याभिषेक " २८९ (कदाचित् अक्षयतृतीया अथवा विजयादशमी हो, क्योंकि ये शुभ मुहूर्त माने जाते हैं) " १५ वर्ष

महाराजा संप्रति ने अपनी राजगद्दी अवंति अर्थात् उज्जयिनी में स्थापित की थी। उसे इसके प्रति हार्दिक प्रेम था, क्योंकि उसकी जन्मभूमि यही थी और उसकी बाल्यावस्था भी यहीं बीती थी। इसी लिये उसने अपने धर्म का अवलंबन भी वहीं ग्रहण किया है। सारांश यह कि उसकी जिंदगी की समस्त सारभूत घटनाओं का मुख्य स्थान यहीं था। साथ ही राजनीतिक दृष्टि से विचार करने पर भी वे कुछ दीर्घ दृष्टिवाले माने जा सकते हैं। क्योंकि इतने बड़े साम्राज्य की व्यवस्था ठेठ पाटलिपुत्र या राजगृह जैसे एक कोने में पड़े हुए मगध देश के एक नगर में रहकर चलाने की अपेक्षा भारतवर्ष के हृदय रूप मध्यस्थल अवंति से[2] शासनसूत्र चलाना श्रेयस्कर और अधिक उचित कहा जा सकता है।

---

(१) देखिए, सर कनिंगहम् "बुक आफ एंशियंट इराज" का पृष्ठ २।
(२) इस समय से अवंति नगरी का महत्त्व भारत की मुख्य राजधानी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरी धारणा है कि इस समग्र लेख को पढ़कर पाठकों को नीचे लिखे मुद्दों के विषय में पूर्ण विश्वास हुआ होगा—

[प्रथम] महान् सिकंदरशाह के समकालीन रूप में जिसका नाम ग्रीक ग्रंथकर्ताओं ने सेंड्रोकोट्स के रूप में बतलाया है, वे मगधपति चंद्रगुप्त नहीं वरन् मगधराज अशोक ही थे [इसी लेख का तीसरा विभाग, शिलालेख ० का पैरा नं० १४ और ३१]

[द्वितीय] महाराज अशोक, जो परम बौद्ध थे, उन्होंने नहीं वरन् सम्राट् प्रियदर्शिन् ने—जो एक परम जैनी थे—ये सारे शिलालेख खुदवाए थे[1] । [विभाग तीसरा पैरा नं० १, ९, १०, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २६, २७ और २८ देखिए]

[तृतीय] महाराज अशोक और महाराज प्रियदर्शिन् ये दोनों ही भिन्न भिन्न व्यक्ति थे । [विभाग तीसरा पैरा २, ५, ६, ७, ८, ११, १८, २४, २६, २७, २८, २९ और ३० देखिए]

[चतुर्थ] महाराज प्रियदर्शिन् और जैन संप्रदाय के राजा संप्रति दोनों एक ही पुरुष थे । (विभाग तीसरा पैरा नं० ३, ५, १५, २५, २७, २८ और ३० देखिए) उनका दूसरा नाम[2] दशरथ भी हो सकता है (पैरा ११ देखिए) ।

[पंचम] प्रियदर्शिन् शब्द विशेष नाम है, गुणवाचक विशेषण नहीं (विभाग तीसरा, पैरा नं० ३० देखिए)

विद्वानों के हृदय में जो दो-एक शंकाएँ उत्पन्न हो सकती हैं, उनका समाधान इस लेख को समाप्त करने से पूर्व कर देना उचित

के रूप में विख्यात हो जाने के कारण इसे हस्तगत करने के लिये सभी राज्य-कर्ता इच्छुक हो गए थे । अवंतिपति भी साधारणतः सबके अधिनायक माने जाने लगे थे ।

(१) मस्की का शिलालेख (पृष्ठ ४६) देखिए ।

(२) पाद टीका नं० २ (पृ० ४५) देखिए ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगा, (१) यदि अशोक ही प्रियदर्शिन् न हो तो मक्सी के शिलालेख में अशोक शब्द स्पष्ट शब्दों में क्यों लिखा गया है ? (२) प्रियदर्शिन् बौद्धधर्म के यात्रास्थान लुंबिनि और निग्लिवि नामक गाँवों में क्यों गया ? यदि वह स्वतः बौद्धधर्मी न होता तो वहाँ क्यों जाता ? इसी लिये प्रियदर्शिन् ही अशोक हो सकता है। इन दो शंकाओं का समाधान—[प्रथम शंका] यह निर्विवाद है कि मक्सी के शिलालेख में महाराज अशोक के नाम का निर्देश हुआ है। किंतु उसमें "देवाणां प्रिय अशोकस्य....." इस प्रकार के शब्द हैं। इसमें पहली दलील यह है कि 'देवाणां प्रिय'[1] शब्द तो प्रत्येक भक्तजन के लिये संबोधन में उपयोग किया जाता है अर्थात् प्रियदर्शिन् के संबंध में जिस प्रकार उसका उपयोग किया जा सकता है, उसी प्रकार अशोक के संबंध में भी वह काम में लाया जा सकता है। किंतु इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि प्रियदर्शिन् ही अशोक था। हाँ, यदि "देवाणां प्रिय प्रियदर्शिन् अशोक" इस प्रकार के शब्द होते तो वह अवश्य ही अशोक सिद्ध हो सकता था। दूसरी दलील यह है कि अशोकस्य शब्द षष्ठी विभक्ति में लिखकर.....जगह खाली छोड़ दी है। [इसके समर्थन में निम्न वर्णन उपयोगी हो सकता है। जिस प्रकार मैं "अशोकस्स" शब्द को षष्ठी विभक्ति के रूप में मानता हूँ, उसी प्रकार श्री राधाकुमुद मुकर्जी भी अपनी "अशोक", नामक पुस्तक के पृष्ठ १२ में लिखते हैं—" of His Gracious

(१) सिलोन के राजा तिस्सा को संबोधन करते समय भी देवाणां प्रिय शब्द का उपयोग किया गया है। (देखिए दीपवंश तो० द्वे० रा० भांडारकर कृत अशोक, पृष्ठ ७)। इस तिस्सा का राज्य ई० पू० २४७ से २०७ तक था, जो अशोक (संप्रति) का समयवर्ती था (प्रिंसेप्स इंडि० ऐंटिक्विटीज पु० २, पृ० २९५)। उसका समय ई० पू० ३०७-२०७ दिया है। नोट नं० १ (पृ० २३) से मिलान कीजिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Majesty Asoka" ये शब्द उन्होंने अनुवाद करते समय लिखे हैं।] इससे जान पड़ता है कि कोई दूसरा शब्द और भी लिखना शेष होना चाहिए[1]। अथवा लिखा गया हो और किसी सामयिक घटनाचक्र से विनष्ट हो गया हो, अथवा 'अशोकस्स' षष्ठी विभक्ति के बदले यदि 'अशोकः' के रूप में प्रथमा विभक्ति का उपयोग किया जाता तो शंका का निराकरण हो जाता। [वे उपर्युक्त लेख के ही संबंध में आगे चलकर फिर कहते हैं कि— It indicates that it was drafted and incised by the local authorities in commemoration of the Emperor's visit and gifts to the place and not directly by the Emperor, like most other edicts (अर्थात् महीयते शब्द के अर्थ में जो हेर-फेर समझ लिया जाता है, उसका कारण यहाँ दृष्टिगोचर होता है)] [दूसरी शंका] लुंबिनि[2] शिलालेख में 'देवाणां प्रिय प्रियदर्शिन्' शब्द है सही किंतु लेख का अर्थ केवल इतना ही होता है कि प्रियदर्शिन् राजा ने अपना राज्याभिषेक होने के २० वर्ष बाद इस स्थान को देखा। लेख में खुदे हुए **'महीयते'** का अर्थ पूजा करने के रूप में लेना उचित नहीं कहा जा सकता। अन्यथा worship of personalities का अर्थ क्या किया जा सकता है? सारांश, 'महीयते' शब्द का महिमा बढ़ाने या गाने के अर्थ में प्रयोग किया गया है, और ऐसा करने के लिये अनेक कारण हो सकते हैं। [साथ ही व्याकरण का यह एक अबाधित नियम* है कि विशेषण और विशेष्य

---

(१) कदाचित् "अशोकस्य पौत्र राजा प्रियदर्शनम्" लिखना उद्दिष्ट हो।

(२) दे० रा० भांडारकरकृत "अशोक" पृष्ठ ७४ देखिए।

* इस सूचना के लिये मैं दीवान बहादुर केशवलाल हर्षदराय ध्रुव का कृतज्ञ हूँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोनों के एक ही वचन और विभक्ति होने चाहिए। इस नियम के अनुसार यदि "देवाणां प्रिय" शब्द "अशोकस्स" का विशेषण होता तो वह इसके स्थान पर "देवाणां प्रियस्स अशोकस्स" के रूप में लिखा जाता। किंतु जब 'देवाणां प्रिय' शब्द प्रथमा विभक्ति में है तो इसका विशेष्य भी प्रथमा विभक्ति में ही होना चाहिए, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है और वे शब्द खाली छूटे हुए स्थान में थे, किंतु इस समय घिसे हुए अथवा मिटाए हुए पाए जाते हैं। इस तरह मेरे उपर्युक्त अनुमान का समर्थन होता है।] सबसे मुख्य संभावना तो इस बात की हो सकती है कि राजा प्रियदर्शिन् के राज्याभिषेक के १९ वर्ष बाद [ई० पू० २८९—१९= ई० पू० २७० में] अशोक की मृत्यु हुई; अतः वह इसके एक वर्ष बाद अपने पूज्य पितामह की सांवत्सरिक क्रिया करने के लिये उनके धर्म-तीर्थस्थान में गया होगा। [आज भी हिंदू लोगों में यही प्रथा प्रचलित है।] दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि जिस प्रकार उसने अपने राज्य के अन्य स्थानों को देखा, उसी प्रकार वह इस स्थान में भी गया हो, तीसरा कारण राज्यकर्त्ता के नाते अपनी प्रजा के धर्मस्थानों का सम्मान करने के लिये ही वहाँ गया हो; अथवा वह कहाँ तक धर्म-सहिष्णुता दिखला सकता है; अथवा किसी प्रजाप्रिय सम्राट् को किस प्रकार बरतना चाहिए, यह बतलाने के लिये वहाँ गया हो। चौथे, जिस तरह अनेक हिंदू राजा स्वयं अन्यधर्मानुयायी होते हुए भी विभिन्न धर्म-मंदिरों को बनवाते रहे हैं और उनके इस विषय के उल्लेख इतिहास में पाए जाते हैं, उसी प्रकार राजपिता के नाते प्रजा के प्रति वात्सल्य भाव दिखलाने का भी उद्देश्य हो।

इस प्रकार उपर्युक्त दोनों शंकाओं का समाधान करने के बाद अंत में पाठकों से निवेदन है कि मेरे बतलाए हुए प्रमाणों से यदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे सहमत हों तो स्वाभाविक रीति से उन्हें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अब तक जो महत्ता या कीर्ति सम्राट् अशोक को दी जाती रही है, वह सम्राट् संप्रति को दी जानी चाहिए। इसी प्रकार शिलालेखों (चट्टान या स्तंभ पर खुदे हुए) ने समग्र जगत् की सामान्य जनता पर सामाजिक, राजनीतिक या क्षेत्रानुरूप जो प्रभाव डाला है, वह बौद्ध धर्म के कारण नहीं, वरन् जैनधर्म के कारण ही है, यह मानना पड़ेगा। इसी लिये इस विषय का विस्तृत प्रचार कर जैनधर्म के साथ किए जानेवाले अन्याय को मिटाने के निमित्त उन्हें आगे बढ़ना चाहिए।

सर्वमंगल मांगल्यं सर्वकल्याणकारणम्।
प्रधानं सर्वधर्माणां जैनं जयतु शासनम्॥

परिशिष्ट (अ)

(पैराग्राफ नं० २ और २ से संबंधित फुटनोट १ (पृ० २१) के अनुसार)

सुदर्शन तालाब की प्रशस्ति का अनुवाद[२] जिस रूप में किया गया है, उसके अनुसार प्रो० हुल्ट्श ने[३] स्वयं यशकीर्ति पूर्ण कलश क्षत्रप रुद्रदामन् के सिर पर चढ़ाया है; किंतु फिर भी मुझे सम्मान-पूर्वक उनसे भिन्न मत प्रकट करना पड़ता है। अर्थात् मैं उस कीर्ति-कलश को सम्राट् संप्रति के सिर पर चढ़ाना चाहता हूँ। और इसके लिये अपनी इन दलीलों को उपस्थित करता हूँ।

(१) नवीं पंक्ति में—"विस्तृत" और "णा आगभात् प्रभृत्य अविहत समुदित राजलक्ष्मी" इन दो वाक्यों के बीच बहुत ज्यादा

(१) पैरा नं० १५ (पृ० २८) का 'ब'॥
(२) शिलालेखादिवाले अंश का पैरा नं० २ (पृ० २०) देखिए।
(३) एपिग्रा० इंडिका, पु० ८, पृ० ३२ और उसके बाद।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खाली जगह छूटी हुई है और इस वाक्य का अर्थ इस प्रकार किया गया है कि, "(वह) जब से गर्भ में आया[1] तब से राज्य-ऋद्धि में अबाधित रूप से वृद्धि होती रही थी।"

हम ऐतिहासिक प्रमाणों से इस बात को भली भाँति जानते हैं कि रुद्रदामन् के पितामह चाष्टाण महाक्षत्रप ने जिन जिन देशों पर विजय प्राप्त की थी, उसका बहुत बड़ा भाग उसके पिता जयदामन् ने गँवा दिया था[2]। अर्थात् रुद्रदामन् जब गर्भ में था तब और इसके बाद उसकी बाल्यावस्था में उसके पिता की राज्य-ऋद्धि और वैभव की घटती के दिन थे। इसलिये उपर्युक्त वर्णन रुद्रदामन् के विषय में प्रयुक्त नहीं हो सकता। यदि यह माना जाय कि रुद्रदामन् के गर्भ में आने, उसका जन्म होने और बाल्यावस्था समाप्त होने तक का समय महाक्षत्रप चाष्टाण की उत्तरोत्तर उन्नति का समय था, तो भी यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि वृद्धि का ज्वार आना रुककर उसके पिता के समय उतार का आरंभ हो गया था। सारांश उपर्युक्त श्लाघात्मक वाक्य सर्वांश में रुद्रदामन् के लिये प्रयुक्त नहीं हो सकता; किंतु सम्राट् संप्रति के लिये वह पूरी तरह लागू हो सकता है।

साथ ही यह वाक्य सम्राट् संप्रति के लिये प्रयुक्त करने का एक खास कारण भी है। वह यह कि उस शिलालेख की आठवीं पंक्ति में मौर्य्यवंशी सम्राट् चंद्रगुप्त और उसके बाद सम्राट् अशोक का उल्लेख है। इसके बाद का स्थान खाली छूटा हुआ है। इसलिये यह स्वाभाविक है कि एक के बाद दूसरे सम्राट् के गद्दी पर बैठने का वर्णन करने की प्रथा प्रचलित होने से सम्राट् अशोक के बाद गद्दी पर बैठनेवाले से संबंधित ही उक्त वर्णन हो सकता है।

---

(१) देखिए टिप्पणी नं० २ (पृ० २१)।

(२) ज० बो० ब्रां० रा० ए० सो० की नई आवृत्ति पुस्तक, पृ० ७३ और आगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्राट् प्रियदर्शिन् जिस प्रकार अन्य प्रांतों पर शासन करने के लिये अपने राज्य-परिवार के खास खास व्यक्तियों को[1] सूबा के रूप में नियुक्त करता था, उसी प्रकार सौराष्ट्र प्रांत (काठियावाड़) पर शालिशुक[2] नाम के पारिवारिक जन को नियुक्त किया था, और उसकी देखरेख में ही उसने उक्त तालाब की दुरुस्ती[3] कराई थी। इसी लिये राजा रुद्रदामन् ने इन सारे विशेषणों[4] का प्रयोग सम्राट् प्रियदर्शिन् को लक्ष्य करके ही किया है; और अपने सुकृत्यों की प्रशंसा के लिये केवल तुलना के स्वरूप में उन्हीं को शिलालेखों के अंतिम भाग पर विहंगम-दृष्टि से ही खुदवा दिया है। क्योंकि वह खुद जानता था कि कहाँ सार्वभौम भारतीय मौर्य्यवंशी सम्राट् और कहाँ वह केवल पश्चिम भारत के एक छोटे से भाग का राजा। दोनों की तुलना हो ही कैसे सकती है? इस बात की विशेष पुष्टि इससे हो सकती है, कि वह तालाब

---

(१) अशोक के लेख—प्रो० हुल्टश कृत Pre XXXVII Seg. 'अशोक-चरित्र' ग० ब० मे० कृत पृ० ४८-४९, Bhandarker, Asoka, pp. 49-59.

[एक] नेपाल में देवपाल को (वि सेंट स्मिथ कृत तीसरी आवृत्ति पृ० १९६-७) [दो] मगध में दशरथ को (देखिए नागार्जुनी गुफालेख) [तीन] कलिंग में तोसलीपुत्र को [चार] सत्यपुत्र को [पाँच] केरलपुत्र को [छः] उज्जयिनी में सूबा बनाया था। इनमें से प्रथम चार का तो उल्लेख इसी रूप में किया है, शेष दो को दूसरे रूप में बतलाया गया है।

(२) देखिए बुद्धिप्रकाश, पुस्तक ७६, अंक ३, पृ० ९२ में, जहाँ कि गर्गसंहिता पर विवेचन किया गया है। वि सेंट स्मिथ कृत अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, तीसरी आवृत्ति, पृ० २०४, टीका नं० १, पृ० १९४, टीका नं० १, पृ० २८८ तथा पृ० २०७ टीका नं० १।

(३) देखिए इसी लेख में की तीस दलीलों में से नं० २ और ३।

(४) परिशिष्ट की दलील नं० १-२-३ में प्रयुक्त समस्त विशेषण तथा तीस दलीलों में से नं० २-३ और ४ के साथ तुलना कीजिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस समय श्री गिरनारजी की तलहटी में खुदवाया गया था और शिलालेख भी वहीं[1] लगाया गया था जहाँ कि उस तालाब के स्मरण चिह्न रूप उसकी पाल (दीवार) का कुछ भाग और उसमें मिलनेवाली दो नदियों के[2] प्रवाहमार्ग रूप कगारे हमें आज भी दृष्टिगोचर होते हैं। सारांश यह कि उस समय श्री गिरनारजी की तलहटी वहीं तक फैली हुई थी जहाँ कि आज उक्त शिलालेख मिलता है।

(२) उसी नवीं पंक्ति में यह भी लिखा हुआ है कि "युद्ध के अतिरिक्त[3] प्राणांत तक[4] भी मनुष्य-वध न करने की उसने प्रतिज्ञा की थी।"

यह वाक्य ही रुद्रदामन् की अपेक्षा सम्राट् संप्रति के लिये पूर्ण रूप से उपयुक्त हो सकता है; क्योंकि शिलालेख नं० ८ के द्वारा हम संप्रति राजा के जीवन-सिद्धांतों से[5] परिचित हो चुके हैं कि उसने कलिंग देश जीतने के लिये जो चढ़ाई की थी उसमें अगणित संख्या में मनुष्यों की हत्या हुई देखकर उसका हृदय काँप

---

(१) राजा प्रियदर्शिन् ने शिलालेख क्यों खुदवाए यह जानने के लिये मेरी लिखी हुई सम्राट् प्रियदर्शिन् की जीवनी नाम की पुस्तक देखिए।

(२) लेख में उन दोनों के नाम सुवर्णसिकता और परमाशिनी लिखे गए हैं, जिनका अपभ्रंश होकर आज वे सोनरख और पलासिसो के नाम से पहचाने जाते हैं।

(३) वह स्वयं राजा होने के कारण इस बात को जानता था कि मुझे युद्धभूमि में उतरना ही पड़ेगा; इसी लिये उसने इस प्रकार के आगार-अपवाद के साथ व्रत धारण किए होंगे। अथवा कलिंग देश जीतने के बाद उसने जो आठ व्रत लिए (नीचे की टीका ४ देखिए) वे इसकी याद दिलाते हैं।

(४) टिप्पणी नं० १ (पृ० ४०) तथा अहिंसा का शिलालेख नं० १ मिलान कीजिए।

(५) मुख्य लेख के शिलालेखवाले अंश के पैरा नं० ७-२७ आदि देखिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उठा था, और इसी कारण उसने तत्काल प्रतिज्ञा की थी। जब हम क्षत्रप रुद्रदामन् के जीवन में कहीं भी इस बात का इशारा तक नहीं पाते, और शकों के समान घातक एवं क्रूर स्वभाव वाली अनार्य जाति के किसी व्यक्ति के हृदय में (जिस जाति का राजा रुद्रदामन् था) इस प्रकार की दया उत्पन्न होने की कल्पना तक नहीं की जा सकती।

(३) आगे चलकर यह निर्देश किया गया है कि पूर्व तथा पश्चिम आकारावंति[1], अनूपदेश, आनर्त[2], सुराष्ट्र, श्वभ्र[4], मरु, कच्छ, सिंधु, सौवीर[5], कुकुर[6], अपरांत,

---

(१) इन शब्दों को अलग करने पर आकर = खानि + अवंति — उज्जयिनी-वाला प्रदेश भी इस अर्थ से ठीक तरह नहीं मिलता। जान पड़ता है कि उस प्रदेश के राजनीतिक दृष्टि से दो विभाग किए गए हों। क्योंकि पूर्व और पश्चिम के रूप में आज भी कई प्रदेशों के इस तरह के विभाग दिखाई देते हैं।

(२) आधुनिक बरार प्रांत का दक्षिण भाग (रॉ० ए० ओ० बें०, पु० ७, पृ० ३४१)

(३) कंबोज, सिंध और यवन प्रांतों के साथ उसका वर्णन किए जाने से (देखिए रॉ० ए० सो० बें०, पु० ७, पृ० ३४१, टिप्पणी तथा एशिया रिसर्चेज पु० ७, पृ० ३३६) वह प्रांत भी आधुनिक पंजाब का सीमाप्रांत होने विषयक अनुमान किया जा सकता है। यदि आनर्त देश से कुछ भी संबंध हो तो शत्रुंजयप्रकाश (भावनगर मुद्रित १९२६, पृ० १, टि० २) में उसका दूसरा नाम बड़नगर बतलाया गया है, जो कि उत्तर गुजरात का एक प्रमुख नगर है। आनर्त = गुजरात और मालवा का कुछ भाग (देखिए नंदलाल डे कृत Ant, Geo., India.)

(४) इसका आधुनिक नाम और स्थान अज्ञात हैं।

(५) आधुनिक कच्छ के ईशान कोण में तथा वर्तमान राजपुताना के आग्नेय तथा पश्चिम भाग वाला प्रदेश।

(६) बनारस नगर वाला भाग (रॉ० ए० सो० ए०, पु० पृ० ३४१, टिप्पणी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निषाद[1] आदि देश उसने अपने बाहुबल से अधिकृत कर लिए थे[2]।

क्षत्रप रुद्रदामन् ने अपने बाहुबल से अनेक देशों को जीत लिया था, इस बात को यदि हम मान लें (जब कि हमारी इस जानकारी का आधार मुख्यतः इस सुदर्शन तालाब का संशयात्मक लेख ही है) तो भी यह तो निश्चित ही है कि इतने विस्तृत प्रदेश पर उसने कभी सत्ता स्थापित ही नहीं की थी। किंतु सम्राट् संप्रति के दिग्विजय में[3] इन सब देशों का समावेश हो जाता है।

विशेष में सम्राट् संप्रति का यह वर्णन भी देखने में आता है कि वे श्रीसंघ के साथ[4] प्रतिवर्ष श्री गिरनारजी की यात्रा के लिये जाते और यह सुदर्शन तालाब उस गिरिराज की तलहटी में बना हुआ होने से उसे दुरुस्त कराने की ओर यदि प्रजाजन ने उनका ध्यान आकर्षित किया हो और अपनी लोक-कल्याण एवं प्रजाहित[5] के

---

(१) राजपुताना के जयपुर के कछवाहे अंबर राज्य के रूप में पहचाने जाते हैं। और अंबर के क्षत्रियों की निषद (आधुनिक निर्बुर) देश में बसनेवाले असल क्षत्रियों की यह शाखा है। क्षत्रियों में विख्यात अभागे नल दमयंती का नाम हमारे पूर्ण परिचय का और विख्यात है। (टॉड राजस्थान, पु० १, पृ० १४०)।

(२) सुदर्शन तालाब के इस शिलालेख के अतिरिक्त दूसरा ऐसा कोई साधन हमारे पास नहीं है, जिससे कि रुद्रदामन् की सत्ता के विशेष विस्तृत होने की बात जानी जा सके।

(३) देखिए—पैरा २७ (पृ० ३६) और २६ (पृ० ४१) मिलान कीजिए पैरा नं० ७

(४) देखिए शिलालेख नं० ८ (ऊपर के पैराग्राफ १५ ग, पृ० ३१, पैराग्राफ २७) परिशिष्ट पर्व भावनगर मुद्रित।

(५) उसने हजारों गाँवों में कुए, तालाब, बावड़ी, धर्मशालाएँ, दानशालाएँ, जैनमंदिर आदि बनवाए हैं। भावनगर मुद्रित परिशिष्ट पर्व अनुवाद पृ० २१०–८ और आगे बतलाए हुए वर्णन से मिलान कीजिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्य करने विषयक स्वाभाविक प्रवृत्ति एवं उत्साहपूर्ण भावना के अनुसार यदि उन्होंने ऐसा किया भी हो तो आश्चर्य की कोई बात नहीं। इसी प्रकार रुद्रदामन् और संप्रति के समय के बीच लगभग तीन सौ वर्ष का अंतर पाया जाता है,[1] अतएव यदि जनता में दंतकथा रूप से प्रचलित इस प्रकार के लोक-कल्याण के कार्यों का वर्णन एक से दूसरे के कानों तक पहुँचता रहा हो, जिस से कि इस प्रकार के मौर्यवंशी महान् सम्राट् के सत्कार्यों का उल्लेख करने की इच्छा राजा रुद्रदामन् को हुई हो, और इसी लिये एक के बाद दूसरे सम्राट् के कार्यों का उल्लेख किया हो और उनकी पंक्ति में अपना नाम भी गौरवान्वित करने के लिये यह दरसाया हो कि इन उपर्युक्त सम्राटों की तरह, जिन्होंने अपने बाहुबल से अन्य देशों पर विजय प्राप्त की थी, मैं भी हूँ, जिसने अमुक-अमुक कार्य किए हैं।...यदि इस प्रकार अपने कार्यों की मूक महिमा बढ़ाने का उद्देश्य न होता तो राजा रुद्रदामन् ने अपने कार्य दूसरे ही शिलालेखों पर खुदवाए होते। किंतु उन्हें एक ही शिलाखंड पर खुदवाने से उनके साथ तुलना करने के अनुमानित उद्देश्य की पुष्टि होती है।

इस प्रकार उपर्युक्त सारी परिस्थिति का अवलोकन करने से सहज ही यह अनुमान हो सकता है कि नवीं और दसवीं पंक्ति के बीच जो भाग लिखे बिना खाली रह गया है, उसमें अवश्य राजा प्रियदर्शिन् का ही नाम होना चाहिए, क्योंकि सम्राट् अशोक के बाद वे तत्काल ही राज्यारूढ़ हुए थे, और यह सारा वर्णन उसी के जीवन के लिये शोभारूप एवं सर्वथा उपयुक्त हो सकता है। इसी प्रकार प्रशंसारूप जो वाक्य उसमें बढ़ाए गए हैं, यथा—"जब से

(१) सम्राट् संप्रति की मृत्यु ई० पू० २३० के आसपास है, जब कि रुद्रदामन् का अस्तित्व ई० स० १५० में था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह गर्भ में आया, तब से राज्यऋद्धि में अबाधित वृद्धि होती रही"—"रणसंग्राम के अतिरिक्त प्राणांत होने तक भी मनुष्य-वध न करने की प्रतिज्ञा की थी" और इस प्रकार के प्रदेश[1] अपने बाहुबल से जिसने जीत लिए थे—ये सब राजा प्रियदर्शिन् के लिये ही यशोगानरूप विशेषण हैं। और ये सब उनके नाम के साथ ही समग्र रूप से लागू हो सकते हैं, अन्य किसी भी राजा के लिये वे सम्यक् रूप से प्रयुक्त नहीं हो सकते।

(पूर्ति लेख)

पदच्युत महाराजा अशोक के लेख की पूर्ति

(१) रॉयल एशियाटिक सोसायटी पु० १८८७ पृ० १७५ की टिप्पणी में लिखा है कि—"The testimony of Megasthenes would likewise seem to imply that Chandragupta submitted to the devotional teachings of the Shramanas as opposed to the doctrines of the Brahmins."

इस वाक्य से दो बातें सिद्ध हो सकती हैं। प्रथम तो यह कि चंद्रगुप्त प्रथमतः ब्राह्मण धर्म पालता रहा होगा, किंतु पीछे से उसने जैनधर्म को स्वीकार[2] किया होगा; दूसरी बात यह कि मेगेस्थेनीज के समकालीन रूप में तो नहीं, किंतु पुरोगामी-रूप में

---

(१) सम्राट् प्रियदर्शिन् जिन-जिन प्रदेशों के साथ राजनीतिक संबंध रखता था, उन सबकी तुलना कीजिए। (शिलालेख नं० २ तथा १३ टिप्पणी नं० ६ (पृ० २२) पैराग्राफ ७ (पृ० २२) १०, पृ० दे० रा० भांडारकर कृत "अशोक" पृष्ठ १५६—१५८ इंडि० एंटि० १९११ पृ० ११ के ऊपर पृष्ठ १७–१८ पैरा २७ आदि देखिए।

(२) श्रवणबेलगोला का शिलालेख देखिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चंद्रगुप्त का समय होगा। किंतु ग्रीक लेखकों ने मेगेस्थेनीज को चंद्रगुप्त उर्फ सेंड्रोकोट्स के दरबार में एलची होने की बात लिखी है। सारांश यह कि ग्रीक लेखकों का सेंड्रोकोट्स चंद्रगुप्त नहीं, क्योंकि वह सेंड्रोकोट्स का पुरोगामी है।

(२) एक ओर यह लिखा गया है कि[1] ई० पू० ३०४-५ में सेल्युकस ने अपनी पुत्री को सेंड्रोकोट्स के साथ व्याह दिया और दूसरी ओर यह बतलाया गया है कि यह सेंड्रोकोट्स स्वयं ई० पू० ३३० में गद्दी पर बैठा था। सारांश, सेंड्रोकोट्स का विवाह अपने शासन के ३३०–३०४वें वर्ष सेल्युकस की पुत्री के साथ हुआ था। ऐसी दशा में यदि सेंड्रोकोट्स चंद्रगुप्त ही हो तो उस चंद्रगुप्त का विवाह अपने शासन के २६वें वर्ष हुआ कहा जायगा, किंतु चंद्रगुप्त का तो राज्य ही सब लोगों के मतानुसार २४ वर्ष का माना जाता है। तब क्या उसने अपनी मृत्यु के बाद उस कुमारी से विवाह किया होगा? सारांश, सेंड्रोकोट्स किसी प्रकार भी चंद्रगुप्त नहीं हो सकता।

(३) पाली भाषा के प्रसिद्ध जानकार प्रो० कॅर्न लिखते हैं कि[2] सम्राट् अशोक ने—वह स्वयं किस मत का अनुयायी था,

---

(१) Prof. Hultzsch कृत अशोक पुस्तक प्रथम पृ० XXXV; Seleucus gave his daughter to Sendrocattus in B. C. 304 and this Sendrocattus came to the throne in B. C. 330 (*i.e.* Marriage took place in the 26th year of his reign).

(२) रा० ए० सो० १८८७ पृ० १८७ At fitting time and place, Asoka makes mention in a most becoming manner of the doctrine he had embraced but nothing of the Buddhist spirit can be discovered in his State policy.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसे बड़ी सभ्य और शिष्ट भाषा में बतलाया अवश्य है; किंतु उसकी राजनीति में कहीं भी उक्त पंथ—बौद्धमत—के सूत्रानुसार आचरण होता दिखाई नहीं देता।

इन शब्दों से स्पष्ट अनुमान किया जा सकता है कि शिलालेखों का निर्माता बौद्धधर्मी कदापि नहीं हो सकता।

(४) यह निष्कर्ष निकलता है कि[1] फाहियान और युआन-च्वांग नाम के जो दो चीनी-यात्री भारतवर्ष में आए थे, उनके किए हुए वर्णनों में इन शिलालेखों की चर्चा अवश्य है, किंतु फिर भी यह कहीं भी नहीं लिखा गया है कि ये शिलालेख अशोक के खुदवाए हुए हैं। केवल इतनी बात उन्होंने अवश्य लिखी है कि ये लेख प्राचीन हैं और इनमें लिखी हुई बातें इनसे पहले की हैं।

ऐसी दशा में बौद्ध-धर्मी यात्रियों से यह बात अविदित हो सकती है कि "उन्हीं के स्वधर्मी सम्राट् अशोक के खुदवाए हुए ये सब शिलालेख हैं।" इन शब्दों से भी भली भाँति सिद्ध होता है कि इन शिलालेखों से सम्राट् अशोक का कोई संबंध नहीं हो सकता।

(५) दिव्यदान[2] के पृष्ठ ४३० में स्पष्ट शब्दों में लिखा हुआ है कि सम्प्रति, कुणाल का पुत्र था। इसी प्रकार मुख्य लेख में भी हमने यही सिद्ध किया है कि अशोक के बाद गद्दी पर बैठने-

---

(१) Radha Kumood Mookerjee, p. 14 f. n. 3, It should be noted that neither of these Chinese pilgrims (Fa-hian and Youan chwang) has described the inscriptions they had noticed as the inscriptions of Asoka. They generally describe them as belonging to and recording events of earlier times.

(२) Radha Kumood Mookerjee, Asoka p. 8. Ind. Ant. 1914 p. 168 f. n. 67.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाला प्रियदर्शिन् ही सम्प्रति था। इससे भी यही सिद्ध होता है कि अशोक के पश्चात् उसके पुत्र कुणाल का पुत्र ही गद्दी पर बैठा था। पुराणों में जो कुणाल का नाम राजकर्ता के रूप में लिखा गया है, वह यथार्थ नहीं।

(६) पालिभाषा के अधिकार-युक्त अध्ययनकर्ता प्रो० विलसन साहब लिखते हैं कि[1] "प्राणियों का वध-रोकने विषयक उसके आर्डिनेंस (विशेष कानून) बौद्ध धर्म की अपेक्षा उसके प्रतिस्पर्धी जैनधर्म के सिद्धांतों से अधिक मेल खाते हैं।

इस प्रकार एक समर्थ और गहरे अभ्यासी के शब्दों से भी यही सिद्ध होता है कि शिलालेखों की लिपि जैनधर्मानुयायी की ही है और बौद्धधर्म से उसका कोई खास संबंध सिद्ध नहीं होता।

(७) इसी प्रकार बौद्ध धर्म के दूसरे एक विशेषज्ञ रेव्हरेंड एस० बिल, जोर देकर बतलाते हैं कि[2] ग्रीक पुस्तकों में बौद्धधर्म के विषय में कुछ भी उल्लेख हो, ऐसा मुझे विश्वास नहीं होता। सारांश यह कि, ग्रीक लोगों की किसी भी पुस्तक में बौद्धधर्म के विषय में नाममात्र के लिये भी उल्लेख नहीं पाया जाता। ऐसी दशा में बौद्धधर्म के उपदेशकों का वहाँ जाना और अपने धर्म का प्रचार करना तो संभव ही कैसे है ?

---

(१) देखिए ज० रा० ए० सो० १८८७ पृ० २७५, His ordinances concerning sparing of animal life agree much more closely with the ideas of the heretical Jains than those of the Buddhists.

(२) ज० रा० ए० सो० पु० १६ पृ० ४२०, Rev. S. Beal emphatically dictates, "I doubt very much whether there is any deference to Buddhism in the Greek accounts." (R. A. S. Vol. p. 191).

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(८) उपर्युक्त पुस्तक के ही पृष्ठ १९९ में आगे जाते हुए लिखा है[1] कि "स्तंभलेखों में असहाय एवं दुखी प्राणियों के प्रति एवं द्विपद तथा चतुष्पद के प्रति और वायु-आश्रित जीव-जंतु तथा जलचर जीवों के प्रति जो दया, इत्यादि ....." इस प्रकार सूक्ष्म दया का जिन शब्दों में विवेचन किया गया है, वे जैनधर्म के अतिरिक्त अन्य किसी धर्म या संप्रदाय के नहीं हो सकते।

(९) भांडारकर महोदय लिखते हैं कि[2] स्तंभलेख नं० ३ में तो पाँच आश्रव बतलाए हैं, किंतु बौद्धधर्म में तो केवल तीन ही हैं जब कि बुलहर साहब ने इन पाँच आश्रवों के बदले जैन-धर्म के पाँच अणुव्रत[3] होने के विषय में अपना मत प्रकट किया है।

(१०) बौद्ध एवं अन्य धर्म-ग्रंथ इस बात को प्रमाणित करते हैं कि सम्राट् अशोक ने अपने शासनकाल के छब्बीसवें वर्ष यवन-बालिका से विवाह किया था[4]। साथ ही इतिहास के पृष्ठों में भी इस बात का उल्लेख मिलता है कि अलेकजेंडर दि ग्रेट के पश्चात् गद्दी पर बैठनेवाले उसके सरदार सेल्युकस निकोटर को ई० पू० ३०४[5] में मगधपति सम्राट् अशोक के साथ सुलह करने के

---

(१) ज० रा० ए० सो० पु० ६ पृष्ठ १९९ Pillar Edicts :— "Towards the poor and afflicted, towards the bipeds and quadrupeds, towards the fouls of the air and things that move in the waters."

(२) दे० रा० भांडारकरकृत अशोक पृ० १२७

(३) उन पाँच अणुव्रतों के नाम—(१) प्राणातिपात विरमण व्रत (२) मृषावाद विरमण व्रत (३) अदत्तादान विरमण व्रत (४) मैथुन विरमण व्रत (५) परिग्रह विरमण व्रत।

(४) अ० हि० इं० स्मिथ कृत तीसरी आवृत्ति पृष्ठ ११९, केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया पृष्ठ ४३१, ४७२।

(५) टीका नं० ४ (पृ० ६३) के अतिरिक्त अ० हि० इं०, विंसेंट स्मिथकृत पृष्ठ १९६—७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिये बाध्य होना पड़ा[1] था। उस संधि में दो मुख्य शर्तें[2] ये थीं कि सेल्युकस सिंधु नदी के उस पार पश्चिम के पाँच प्रांत मगधपति को सौंप दे तथा अपनी राजकुमारी का मगधपति के साथ विवाह करे और इसके बदले मगधपति सेना के सामान से सजे हुए पाँच सौ हाथी सेल्युकस को दें।

ये दोनों बातें सम्राट् अशोक से ही संबंधित हो सकती हैं। सम्राट् चंद्रगुप्त (या सेंड्रोकोट्स) से नहीं; क्योंकि अशोक ई० पू० ३३० में गद्दी पर बैठा था।[3] अतएव इस हिसाब से उसका छब्बीसवाँ वर्ष ३३०—२६=ई० पू० ३०४ होता है तथा यवनकुमारी से विवाह करने की बात का आशय यह है कि संधि-पत्र की शर्त के अनुसार सेल्युकस ने अपनी पुत्री हेलेना का विवाह सम्राट् अशोक के साथ किया था। इससे भी यही निर्विवाद सिद्ध होता है कि सेंड्रोकोट्स चंद्रगुप्त नहीं वरन् अशोक ही था।

(११) अब तक जितने भी स्तंभलेख उपलब्ध हुए हैं और जिन्हें ऐतिहासिकों एवं पुरातत्त्व-वेत्ताओं ने सम्राट् अशोक को बौद्धधर्म-निरूपणकर्ता बतलाया है, उन प्रत्येक के सिरे पर जो सिंह बना हुआ है उसका आशय क्या होना चाहिए? क्या भगवान् बुद्ध के खुद के अथवा उनके धर्म के किसी सिद्धांत के साथ इस सिंह की आकृति का कोई संबंध बतलाया जा सकता है? नहीं। उसके बदले जैनधर्म के कुछ सिद्धांतों की, गहराई के साथ, छान-

---

(१) टीका नं० ४ (पृष्ठ ६३) के प्रमाण ही यहाँ भी लागू समझिए।

(२) विंसेंट स्मिथकृत अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया की तीसरी आवृत्ति पृष्ठ ११६। केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया पृष्ठ ४३१ तथा ४७२।

(३) सम्राट् अशोक विषयक काल निर्णय के निष्कर्ष 'अ' तथा पैराग्राफ नं० ४–५–६ और उनकी टीकाएँ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीन की जाय तो उनमें सिंह एक श्रेष्ठ प्राणी सिद्ध होगा। इसी प्रकार कितने ही जिनालयों[1] पर मांगलिक चिह्न के रूप में सिंह की ही आकृति बनाई देखने में आती है। इतना ही नहीं वरन् यह एक विश्वविख्यात वार्ता है कि जिन भगवान् महावीर के प्ररूपित जैनधर्म का सम्राट् प्रियदर्शिन् परम भक्त था उन भगवान् महावीर को पहचानने के लिये लांछन (चिह्न)[2] सिंह ही है और इसी लिये भगवान् महावीर के जीवन-चरित्र के साथ संकलित होनेवाली कितनी ही घटनाओं के निर्देश[3] के लिये सम्राट् ने उन उन स्थानों में ये सब स्तंभलेख खड़े करवाए हैं, और उनकी पहचान के लिये ही उन सब स्तंभों पर उन्होंने सिंह की आकृति बनवाई है[4]।

इन सब विवरणों और प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि सम्राट् अशोक के बतलाए जानेवाले सभी शिलालेख और स्तंभलेख सम्राट् अशोक के नहीं वरन् सम्राट् संप्रति के खुदवाए हुए हैं और ये सब जैनधर्म से संबंध रखते हैं।

---

(१) जैसलमेर के मंदिर सम्राट् संप्रति के ही बनवाए हुए हैं, जो आज भी उनके कीर्तिगान द्वारा संसार को आश्चर्य में डाल देते हैं। रत्न पर भी अनेक सिंह की आकृतियाँ बनी हुई देखी जाती हैं।

(२) प्रचलित अवसर्पिणी काल में हुए चौबीसों तीर्थंकरों के नाम तथा उनकी पहचान करानेवाले लांछनों को देखिए।

(३-४) मैं सम्राट् संप्रति तथा भगवान् महावीर के जो जीवनचरित्र लिख रहा हूँ, उनमें इन सब बातों का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) जंबूद्वीप का धर्म, इतिहास तथा भूगोल

[भारत, ईरान, सुमेर-अक्काद, हित्त, फिनीशिया, लघु एशिया, पैलस्टाइन, मिस्र आदि देशों के धर्म, इतिहास तथा भूगोल में ऋग्वेद का महत्त्व]

[लेखक—डाक्टर प्राणनाथ, डी० एस्-सी०, काशी]

उपक्रम

योरोपीय विद्वानों का मत है कि संस्कृत भाषा का अस्तित्व विक्रमादित्य से दो हजार वर्ष पूर्व नहीं मिलता। इसका मुख्य कारण यह है कि उस समय आर्य लोग जंगली थे, अपढ़ तथा निरक्षर थे। यह सब का सब सिद्धांत भ्रांति-मूलक है। इस पर वाद-विवाद करने से कुछ भी फल न निकलेगा, इसलिये एक दूसरी पद्धति का ही इस निबंध में अवलंबन किया गया है।

आर्य जाति के इतिहास को समझने के लिये यह आवश्यक है कि घृणित तथा दोषपूर्ण भौगोलिक प्रेम को मुख्यता न दी जाय। जिस समय से इस ग्रंथ का संबंध है उस समय भारतवर्ष जंबू-द्वीप का एक छोटा सा भाग समझा जाता था। यह महाप्रदेश गंगा से लेकर मिस्र देश की नील नदी तक विस्तृत था। प्रत्येक नगर में मंदिर तथा देवताओं के पूजापाठ कराने के लिये पुजारी थे। पठन-पाठन का काम भी इन्हीं मंदिरों में होता था। दूर दूर देश के विद्यार्थी पढ़ने आते थे। यात्रियों का भी गमनागमन प्रसिद्ध प्रसिद्ध मंदिरों में होता था। प्राचीन आर्य लोगों को, चीनियों के सदृश, अपने पर बहुत अभिमान था। वे लोग अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को **देव, पितर, कुबेर, गंधर्व, यक्ष, किन्नर, नाग, दानव** आदि नामों से पुकारते थे। ये लोग बहुधा अपने आपको पशु-पक्षी आदि के वेष में भी प्रकट करते थे। जितनी जातियाँ थीं उतने ही उनके ऐसे ऐसे विचित्र विचित्र चिह्न थे।

मंदिरों में देवी-देवताओं के सदृश राजों-महाराजों, रानियों तथा महारानियों का भी पूजा-पाठ होता था। उनके उपलक्ष्य में जो कविताएँ की जाती थीं उनमें इस बात का ध्यान रखा जाता था कि उनका सूर्य चंद्र, नक्षत्र आदि संबंधी भिन्न भिन्न देवी-देवताओं के साथ साम्य हो जाय। जब आर्य-समाज के बड़े बड़े लोग मर जाते थे तब उनके ऊपर भिन्न भिन्न तारों तथा नक्षत्रों के नाम रखे जाते थे। सप्तर्षि, ध्रुव, रोहिणी, अरुंधती, शुक्र, बृहस्पति, बुध आदि इन्हीं के उदाहरण हैं।

देवी-देवताओं, राजों-महाराजों, रानियों-महारानियों आदि के संबंध में जो भी कविताएँ तथा मंत्र बनाए गए थे उनके संग्रह का नाम ही **वेद** है। जंबू द्वीप के भिन्न भिन्न देशों में मंदिर थे। उनमें जो मंत्र-पाठ होते थे उन्हीं से वेदों का संबंध है। यही कारण है कि वेदों के सब मंत्रों की भाषा एक सी नहीं है। जब तक पुराने इतिहास तथा पुराण का ज्ञान नहीं होता तब तक वेदों का समझना कठिन है। यह पता नहीं चलता कि कौन सा शब्द राजा के नाम को सूचित करता है और कौन सा शब्द यौगिक है। संस्कृत भाषा तथा वैदिक भाषा में **देश** तथा **काल** का भेद भी बहुत ही अधिक है। इससे समझने में कठिनाई और भी अधिक बढ़ गई है।

विक्रमादित्य से कई सौ वर्ष पूर्व यास्क मुनि के युग में महर्षि कौत्स आचार्य का मत था कि **वेदों के मंत्र निरर्थक हैं**[१]।

---

(१) अथापादमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थ प्रत्ययो न विद्यते अर्थमप्रतियतो नाध्यन्तं स्वर संस्कारोहेशस्तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चार्वाक लोगों का विचार था कि तीनों वेदों के बनानेवाले भंड धूर्त निशाचर हैं[1]। जैनों ने प्रारंभ से ही उनका बहिष्कार कर रखा था। बौद्धों ने भी उनको कोई महत्त्व न दिया। कौटिल्य के विचार में बृहस्पति-संप्रदाय के विद्वानों का मत है कि तीनों वेद संसार-यात्रा को समझनेवालों के लिये (इज्जत) ढाँपने का एक-मात्र साधन हैं[2]। पौराणिकों तथा आगमिकों ने पुराणों तथा आगमों पर ही विशेष ध्यान रखा है। हिंदुओं के घरेलू पूजा-पाठ में दुर्गा, गौरी, गणेश आदि की पूजा का ही प्राधान्य है। जैन तथा हिंदू दोनों ही ने अपनी अपनी संध्या में तांत्रिक देवी-देवताओं, ह्रीं, श्रीं, क्लीं इत्यादि मंत्रों और अँ, कँ, खँ, गँ आदि बीजाक्षरों को विशेष प्राधान्य दे रखा है। इसमें संदेह नहीं है कि हिंदू दर्शन-शास्त्र तथा धर्मशास्त्र वेदों को प्रामाण्य ग्रंथों में सब से मुख्य स्थान देते हैं, जो कि वर्तमान युग के प्रजातंत्र प्रतिनिधि-सत्तात्मक राज्यों के राजाओं के स्थान से बहुत कुछ मिलता-जुलता है।

कौत्स-मतानुयायियों के सदृश ही यास्क मुनि के समय में एक और संप्रदाय था, जो कि वेदों के मंत्रों में ऐतिहासिक घटनाओं का अस्तित्व मानता था। यास्क मुनि ने इनको **ऐतिहासिक** नाम दिया है, जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट है—

यदि मन्त्रार्थे प्रत्ययायानर्थकं भवतीति कौत्सोऽनर्थका हि मन्त्रास्तदेते नेपेक्षितव्यम् ।:.....अथाप्यविस्पष्टार्था भवन्त्यभ्यरयादृशिमज्जारयायि काणुकेति ॥ [निरुक्त, अध्याय १, पाद ५]

(१) त्रयो वेदस्य कर्त्तारः भण्डधूर्तनिशाचराः। [सर्वदर्शनसंग्रहे, चार्वाक दर्शनम्]

(२) वार्तादण्डनीतिश्चेति बार्हस्पत्याः—संवरणमात्रं हि त्रयो लोकयात्राविद इति ॥ [कौटिलीयं अर्थशास्त्रम्, प्रकरण १, पृ० ६, माइसोर सं० १९१९]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्रेतिहासमाचक्षते—देवापिश्चार्ष्टिषेणः शन्तनुश्च कौरव्यौ भ्रातरौ बभूवतुः, सशन्तनुः कनीयानभिषेचयाञ्चक्रे, देवापिस्तपः प्रतिपेदे।...तस्यैतद्रूपं काम-सूक्तम्। तस्यैषा भवति ॥ १० ॥ आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन् देवापि-र्देव सुनतिं चिकित्वान्।

[निरुक्त, अध्याय २, पाद ३]

तीनों वेद कहाँ से आए, किसने इनको बनाया और इनके विकास में क्या क्या क्रम रहे हैं, इसका प्रारंभ से ही किसी को ज्ञान न था। यही कारण है कि इनको **अपौरुषेय** माना जाता है। चूँकि इनको भारतीय ब्राह्मणों ने बड़े कष्ट तथा परिश्रम से नष्ट होने से बचाया तथा इनकी भाषा में संस्कृत शब्दों का प्रयोग बहुतायत से है, अतः इनका उद्भव भारत में तथा इनकी भाषा को संस्कृत का पूर्वरूप माना गया है। इनकी भाषा को आधार मानकर दैशिक आर्य भाषा के शब्दों का उद्भव दिखानेवाले बहुत से **शब्दशास्त्र के विद्वान्** संसार के भिन्न भिन्न कोनों में विद्यमान हैं। चूँकि इन ग्रंथों का संरक्षण स्मृतिप्रणाली से किया गया है अतः योरोपीय विद्वानों का विचार है कि जब ये बने तब आर्य लोगों को लेख-प्रणाली का ज्ञान न था। पाश्चात्य पंडितों के मत से इनके निर्माण की तिथि ईसा से दो हजार वर्ष पूर्व के लगभग है।

उपरिलिखित सिद्धांतों तथा विचारों में वेदों की प्रचलित व्याख्याओं का मुख्य भाग है। विक्रमादित्य के राज्यकाल से अब तक तीन प्रकार की व्याख्याओं ने मुख्य रूप ग्रहण किया है—एक तो महीधर की, दूसरी सायण की और तीसरी दयानंद की। चार्वाकों ने महीधर की व्याख्या के आधार पर वैदिक धर्म पर पर्याप्त आक्षेप किया है। दयानंद की व्याख्या आर्यसमाजियों को मान्य है परंतु इसको अभी तक योरोपीय विद्वानों ने पूर्ण रूप से नहीं अपनाया है। सायण की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याख्या ही योरोपीय भाषाओं में किए गए वेदों के भाषांतरों में आधारभूत है। जहाँ तक भारत के विश्वविद्यालयों के प्रोफेसरों का प्रश्न है, इनमें बहुत से लोग योरोपीय मत को पढ़ाते हैं तथा अपनी ओर से छोटी मोटी टिप्पणियाँ भी कर देते हैं।

यदि गंभीर रूप से महीधर, सायण तथा दयानंद के वैदिक-व्याख्यानों का मिलान किया जाय तो वे संस्कृत व्याकरण, निरुक्त, ब्राह्मण ग्रंथ आदि की दृष्टि से भी मान्य प्रतीत होते हैं। यदि इनमें कुछ त्रुटियाँ हैं तो वे सभी में किसी न किसी अंश में विद्यमान हैं। आश्चर्य की बात है कि सायण तथा दयानंद के व्याख्यानों में इतना भेद है कि यदि एक उत्तर जाता है तो दूसरा दक्षिण। चूँकि दोनों ही संस्कृत-व्याकरण की दृष्टि से ठीक प्रतीत होते हैं इसलिये यह कहना अनुचित न होगा कि वेदों की व्याख्या का जो भी साधन तथा आधार है उसमें कुछ कुछ सुधार की आवश्यकता है। यदि वेद विक्रमादित्य से २००० वर्ष पूर्व लिखे गए हैं तो उनका भाषांतर एकमात्र उन उपकरणों से ही न करना चाहिए जो कि उनसे १५०० वर्ष पीछे के हैं।

उपरिलिखित वैदिक भाष्यकर्ताओं के भाष्यों में सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि उन्होंने वेदों के उद्गम-स्थान का रहस्य जाने बिना ही भाष्य करना प्रारंभ कर दिया। सबसे बड़ा प्रश्न तो यह है कि वेदों के ऋषि कौन थे? कहाँ रहते थे? वेदों में किस देश तथा लोक की घटनाओं का उल्लेख है? प्राचीन घटनाओं, पूजापाठों तथा गाथाओं का वर्णन उन्होंने किस पद्धति से किया है? इन प्रश्नों को समझने के लिये कल्पना करो कि आज से छः हजार वर्ष पहले मिस्र से लेकर गंगा तक के महाप्रदेश में आर्य जाति का निवास था। ऋषि तथा महर्षि इसी महाप्रदेश के भिन्न भिन्न भागों में विद्यमान थे। इस दशा में यह तो आव-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्यक है कि यह पता लगाया जाय कि जंबू द्वीप के किस प्रदेश में आर्य जाति का कौन सा शब्द किस अर्थ में प्रचलित था। भारतीय संस्कृत भाषा में **शव** का अर्थ मुर्दा है, परंतु अन्य देश की भाषाओं में इसका अर्थ भिन्न हो सकता है। भारत में **मद** का अर्थ शराब है परंतु जिन देशों में वेद बने बहुत संभव है कि उन देशों में **मद** का दूसरा अर्थ देश-प्रचलित हो। जहाँ तक **ऐतिहासिक पक्ष** का प्रश्न है पार्जीटर महोदय यह तो दिखा ही चुके हैं कि पौराणिक तथा वैदिक प्रथा में आकाश-पाताल का अंतर है। भौगोलिक पक्ष पर अभी तक विद्वानों ने विशेष ध्यान नहीं दिया है। इस प्रकार धार्मिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक तीनों ही पक्षों के उद्धार की आवश्यकता है। वेद आकाश में से नहीं टपके हैं, उनके बनानेवाले संसार में रहते थे, मनुष्य-समाज के रहन-सहन के प्रभावों से प्रभावित थे, वेदों की भाषा को बनने में कई हजार साल लगे, पुरानी भाषा के सम्मुख वैदिक भाषा एक प्रकार से प्राकृत भाषा है, वैदिक शब्द पुरानी भाषा के शब्दों के बहुतांश में अपभ्रंश हैं, इत्यादि बातों को यदि ध्यान में रखा जाय तो वेदों के उद्धार का कार्य किस प्रकार होगा, इसको हम निम्नलिखित तीन पक्षों के द्वारा दिखाएँगे—

(१) धार्मिक पक्ष,
(२) ऐतिहासिक पक्ष,
(३) भौगोलिक पक्ष।

(१) धार्मिक पक्ष

इस निबंध के प्रथम खंड में धार्मिक पक्ष को लेकर **अश्विन्** के स्वरूप को प्रकट किया है। जहाँ तक हो सका है **जर्भरी तुर्फरी** मंत्रों के एक एक वाक्य को बैबिलोनियन इष्टिकाओं के चित्रों के द्वारा स्पष्ट किया है। जर्भरी तुर्फरी तथा अन्य मंत्रों में आनेवाले वैदिक शब्दों का बैबिलोनिया से मिस्र तक के देशों में प्रचलित शब्दों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ क्या संबंध है इसका ज्ञान प्रथम खंड से अपने आप हो जायगा। धार्मिक पक्ष के सदृश ही ऐतिहासिक पक्ष महत्त्व-पूर्ण है।

(२) ऐतिहासिक पक्ष

जहाँ तक सायण-वैदिक-भाष्य, यास्कीय निरुक्त, शतपथ-ब्राह्मण आदि ग्रंथों का संबंध है, किसी ने भी ऐतिहासिक पक्ष की अवहेलना नहीं की है। इन ग्रंथों के लेखकों को ऐतिहासिक पक्ष के उद्धार में विशेष सफलता न मिली। इसके निम्नलिखित कारण हैं—

(क) निरुक्त के लेखक यास्क को यह पता ही न था कि वेद कहाँ से आए और किन लोगों के पुजारियों तथा पुरोहितों ने उन्हें बनाया। उनके इतिहास का भी उसको ज्ञान न था। यदि गंभीर रूप से यास्क को पढ़ा जाय तो यह भी मालूम पड़ जायगा कि उसको बहुत से संस्कृत-शब्दों का उद्भव तक न मालूम था। जिस प्रकार ईसाई तथा पौराणिक धर्म को दबाने के लिये दयानंद ने वैदिक भाष्य किया है उसी प्रकार कौत्स, चार्वाक आदि वेदविरोधी पंथों के दबाने के लिये यास्क ने निरुक्त रचा। उसने आर्यभाषा के बहुत से प्राचीन शब्दों की कपोल-कल्पित, भ्रमात्मक, असत्यपूर्ण व्युत्पत्ति दी। उसको इतना तक तो मालूम न था कि एक ही पदार्थ को सूचित करनेवाले भिन्न भिन्न संस्कृत शब्दों में क्या भेद है! गौ, ग्मा, द्मा, भू, भूमि आदि शब्द सब के सब उसके लिये पर्य्यायवाचक हैं। उन शब्दों में क्या भेद छिपा हुआ है इसको प्रकाशित करने में वह पूर्ण रूप से समर्थ न था। निरुक्त की पद्धति का यह परिणाम है कि दयानंद-पंथियों ने वेदों में वर्तमान युग के नवीन नवीन आविष्कारों को निकालने का बीड़ा उठा लिया है।

(ख) योरोप के पंडितों ने ऐतिहासिक पक्ष के उद्धार में कोई बात उठा न रखी; परंतु वे भी सफल न हुए। इसके निम्नलिखित कारण हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१—उन्होंने वेदों की तिथि ईसा से एक हजार से एक हजार पाँच सौ वर्षों पूर्व तक मानी। उससे पुराने जमाने के इतिहास को उन्होंने आँख उठाकर न देखा।

२—वेदों के त्रुटिपूर्ण भ्रमात्मक व्याख्यानों को सत्य मानकर उन्होंने आर्य जाति को जंगली मान लिया। अतः उन्होंने प्राचीन युग के किसी भी सभ्य समाज के इतिहास को ध्यान से न पढ़ा।

३—जिन लोगों का वेदों में इतिहास है उन लोगों के संबंध में, कुछ वर्षों पूर्व, संसार को कुछ भी ज्ञान न था। उनकी भाषा के अस्तित्व का भी अभी पता चला है।

४—योरोपीय विद्वानों ने **इंद्र** को आर्य जाति के किसी राजा या नेता का नाम मान लिया। उन्होंने अंत तक यह न सोचा कि यह राजा, महाराजा, सम्राट् आदि शब्दों के सदृश ऋग्वैदिक राजाओं की एकमात्र उपाधि थी। बहुत स्थानों में इंद्र के साथ राजा का नाम भी दिया हुआ है।

ऋग्वेद का ऐतिहासिक पक्ष कितना महत्त्वपूर्ण है इसका ज्ञान इसी से हो सकता है कि ऋग्वेद के बहुत से राजा सूसा, सुमेर-अक्काद, हित्त, फीनीशिया, मिस्र आदि देशों के शासक थे। **तिथि, भूमि, लड़ाई** तथा **वंश** आदि भी उनके ज्ञात हैं। निम्न-लिखित कुछ एक ऋग्वैदिक राजाओं का विवरण दिया जाता है। विशेष तो द्वितीय खंड में ही लिखा जायगा।

१—**वटूरिणापदा** (३५००-४००० वर्ष ईसा से पूर्व)—ऋग्वेद का **वटूरिणापदा** या **वटूरु-इणापदा** बैबिलोनिया के प्रसिद्ध नगर **उर्** (Ur) का राजा था। इसको अवर्-महेंद्र ने जिसका दूसरा नाम **अवन्** महेंद्र था बैबिलोन के युद्ध में परास्त किया। अवर् महेंद्र ने सूसा के समीप अपने नाम पर **अवन्** नामक नगर बसाया। आर्य राजाओं की **मघवन्** (=मह्+अवन्)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपाधि का रहस्य **अबन्** नामक नगर में छिपा है। **उर्** के इतिहास में वटुरु इणापदा का नाम **वब्लु-अन्नपद्** दिया है।

वैल-युद्ध के संबंध में जो ऋग्वेद के मंत्र हैं वे नीचे दिए जाते हैं—

उभे पुनामि रोदसी ऋतेन द्रुहो दहामि संमहीरनिंद्राः।
अभिव्लग्य यत्र हता अमित्रा वैलस्थानं परितृळहा अशेरन् ॥ १ ॥
अभिव्लग्या चिदद्रिवः शीर्षा यातुमतीनाम्।
छिन्धि वटूरिणा पदा महावटूरिणा पदा ॥ २ ॥
अवासां मघवञ्जहि शर्धो यातु मतीनाम्।
वैलस्थानके अर्मके महावलस्थे अर्मके ॥ ३ ॥
यासां तिस्रः पंचाशतोऽभिव्लङ्गै रपा वपः
तत्सु ते मनायति तक्त्सु ते मनायति ॥ ४ ॥
पिशङ्ग भृष्टि मम्भृणं पिशांचिमिन्द्र संमृण।
सर्वं रक्षो नि बर्हय ॥ ५ ॥
अवर्महं इन्द्र दाद्हि श्रुधी नः शुशोच हि द्यौः क्षा न
भीर्षा अद्रिवो घृणान्न भीर्षा अद्रिवः।
शुष्मिन्तमो हि शुष्मिभिर्वधैरुग्रेभि रीयसे।
अप ऊरु षणो अप्रतीतो शूर सत्वभिस्त्रिसप्तैः शूरसत्वभिः ॥ ६ ॥
वनोति हि सुन्वन्क्षयं परीणसः सुन्वानो हिष्मा
यजत्यवद्विषो देवानामवद्विषः। सुन्वान इत्सिसासति
सहस्रा वाज्यवृतः ॥ सुत्वानायेन्द्रो ददात्याभुवं रयिं
ददात्याभुवं ॥ ७ ॥

[ऋग्वेद, मं० १, सूक्त १३४, मं० १-७]

ऊपर लिखित मंत्रों में—रोदसी = सुमेर-अक्काद, अभिव्लग्य का **भिव्लग्य** = बिब्लिक जाति; वैलस्थान = बैबिलोन; चिद्-अद्रि = **शिर्** देश में **उर्** के समीप पर्वत; शीर्-षा = शीर् के लोग; यातु = सैमिटिक लोग; वट्-उर्-इणापदा = स्वर्गीय उच्चप्राकार परिवेष्टित उर् के राजा; महा वटूरिणा पदा = महान् वटुरु इणापदा =

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महान् वलूलु अन्न पद; अवासां = अव जाति के लोग; मघवन् = अवन् नामक नगर के सम्राट्; शर्धो = कैल्डिया के राजा; वैलस्थान के अर्मके = बैबिलोन नगर के अर्मियन; महावैलस्थे अर्मके = बैबिलोन राज्य के अर्मियन; मनापति = भाग्य का निर्भर है, हिंदी का **मनौती मनाना** सुमेरियन मन् धातु से निकला है; तकत्सु = लकड़ी के तख्ते; तकत् शब्द सुमेरियन भाषा से संबद्ध है; अवर् मद इंद्र = अवर् नामक राजा = उर् के इतिहास का अवल् (Awal) नामक सम्राट्; घृणान्न = घृणा के अवतार, यहाँ **अन्न** शब्द सुमेरियन है जो कि **बड़े** के अर्थ में आता है; भीषाँ = महाभयंकर; इत्सिला सति = पूरा न्याय करता है, यहाँ सिषा शब्द सुमेरियन है जिसका अर्थ न्याय करना है; सुन्वान = धनुर्धारी, यह शब्द भी सुमेरियन है; आ-भुवं = पानीवाली भूमि, आभुवं में **आ** जल-अर्थवाची सुमेरियन शब्द है—यह शब्द सुमेरियन तथा बैबिलोनियन देशों के साथ संबद्ध है। **अवल्** तथा वलूलु अन्नपद में जो युद्ध हुआ था उसी का ऊपर लिखित मंत्रों में वर्णन है। सबसे अधिक महत्त्व इस सूक्त का यह है कि **उर्** के इतिहास की एक बड़ी भारी जटिल समस्या को यह सुलझा देता है। अभी तक वलूलु या ऋग्वेद के वटूरु के संबंध में बैबिलोनियन इष्टिकाओं से यह पता नहीं चला कि उसका **अन्नपद्** परिवार से क्या संबंध है। ऐतिहासिकों का अनुमान यही है कि **वलूलु** अन्नपद परिवार का है, परंतु यह अनुमान मात्र ही है; इसके लिये अभी तक कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिला है। ऋग्वेद के सूत्र में **वटूरु** के साथ **द्वणापदा** जुड़ा हुआ है, अतः **उर्** इतिहास की सबसे बड़ी जटिल समस्या अपने आप सुलझ जाती है। यही नहीं। वलूलु तथा अवल् या वटूरु तथा अवर् के संबंध में उर् के ऐतिहासिक पूर्ण रूप से अंधकार में हैं। सिवा नामों के तथा **अवल्**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के द्वारा **वलूलु** के परास्त होने के और कुछ भी ऐतिहासिकों को नहीं पता है। ऋग्वेद के सूक्त से यह स्पष्ट है कि **अवर् महेंद्र** या **अवल् महेंद्र** कैल्डिया, अवन्, सूसा आदि प्रदेशों के आर्यों का राजा था। उसके अंगरक्षक वीर सूसा के लोग थे। वैल-स्थान के युद्ध में उसने सैमिटिक लोगों के अर्मियन् शाखा के राजा **वलूलु अन्नपद्** या ऋग्वेदीय **वटूरु-इणापदा** को परास्त किया।

वटूरु-इणापदा के बाद सुमेर-अक्काद में जो भी राजे महाराजे हुए, लगभग सभी का नाम ऋग्वेद में मिलता है। उनके विषय में अनेकों घटनाओं का उल्लेख है। विशेष तो द्वितीय खंड में ही लिखा जायगा। यहाँ पर संक्षेप से ऋग्वेद के कुछ एक और राजाओं के नाम तथा उनका सुमेर-अक्काद-उर् आदि राजाओं से मिलान नीचे दिया जाता है।

२—**तार-इष** [ईसा से ३४००-३१०० वर्ष पूर्व]—ऋग्वेदीय राजा **तार-इष आविस्** का राजा था। सुमेर-अक्काद के इति-हास में इसका नाम **तार्-सि** दिया है और इसके राज्य **आविस्** का नाम ओपिस् (Opis) दिया है।

३—**उर्मिणा** [ईसा से ३००० वर्ष पूर्व]—ऋग्वेद के सम्राट् **उर्मिणा** [उर्मिणा राजा देवः समुद्रियः] का नाम सुमेर-अक्काद के इतिहास में **उर्निना** (Urnina) दिया है।

४—**अंडामान** [२९००-३००० ईसा से पूर्व]—ऋग्वेद् के राजा **अंडामान** का नाम सुमेरियन इतिहास में अंतामान (Antamana) दिया है।

५—**पुरंधि** तथा **इंदु** [२९००-३००० ईसा से पूर्व]—ऋग्वेद के **इंदवः** का सुमेरियन इतिहास के इँतुम् (Enanntum I, II) प्रथम तथा द्वितीय से क्या संबंध है, इस पर द्वितीय खंड में ही विचार किया जायगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

	ऋग्वेद के राजाओं के नाम	काल [ईसा से पूर्व] B. C.	ऋग्वेद के राजाओं का सुमेरियन-अक्केडियन भाषा में दिया हुआ नाम	राजाओं का राज्य-स्थान	
१	अंड या संधुस	२८००	राजा अंड [Lugal Anda]	रजस्, रायस् (Lagas)	यादवों के अंधक-वृष्णिगणों में अंधक-गण का उदय इसी राजा से प्रतीत होता है।
२	सर्गोन = शूर = सुदास पैजवन ?	२७५०	सर्गोन (Sargon)	किश् तथा अन्य बहुत से देशों का राजा	सुमेरियन ग्रंथों में इसकी मृत्यु का जो वर्णन मिलता है, उसको ऋग्वेद के मंत्र पुष्ट करते हैं।
३	गुह्य	२४५०	गुद्य [Gudea]	रायस्पुर या रजस्पुर [Lagas]	
४	अश्विन्	२३००	ईस्वि-(उर) [Ishvi-(Ura)]	हाविरु Habirru वा ऋग्वेद का तावि रु	
५	गुंगु	२२५०	गुंगु-नु (Gungunu)	उर्	
६	जर	२६५०	शर्-(गणि-शर्रि) Shargani-Sharri	अक्काद	कंस का नाम जारायणि, बहुत संभव है, जर श के कारण हो।
७	बुर्चिन् (वृष्णि ?)	२३५०	बुरसिन Bur-sin	सुमेर-अक्काद	

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८	अहं राजन्	२२५०	इस्मि-दाजन् (Ismi-Dagan)	इसंपुर (Isin)	
९	शासु		सासु (Sasu)	पैलस्टाइन्	
१०	मक्षु		मेखु (Mekhu)	मिस्र देश	
११	ऋभु		लेबु (Libu)	मिस्र देश	
१२	अखितोति	१३७५—१३५८	अखितनु (Akhetaton or Ikhnaton)	तल्-एल्-अमर्ना (Tell-el-Amarna)	
१३	मंदु	२४४५—२१६०	मंदु (Mandu)	मिस्र देश	
१४	कवा		कव (Kau)	मिस्र देश	
१५	क्-राणा		क् (K)	मिस्र देश	मिस्र देश के क् से जो राणा चले उनको क्राणा और र् से जो राणा चले उनको राणा नाम दिया गया है।
१६	र-राणा		र (Rā)	मिस्र देश	

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋग्वेद सुमेर-अक्काद, बैबिलोनिया आदि प्रदेशों के राजों महाराजों के नामों से भरा हुआ है। उपरिलिखित सूची तो समुद्र में एक बूँद के बराबर है। ऋग्वेद का **कशु** बैबिलोनिया का **कस्सु** (१०३४—१०३२ B. C.) है जिसके दान की प्रशंसा की गई है। इसी प्रकार **तिरिन्दरस्य पारशव्यस्य दानस्तुति में तिर्-इंदर** का तात्पर्य तिर् गण का राजा है। **तिर्** लोगों का **उर्** के इतिहास में बहुत ही अधिक उल्लेख है।

उपरिलिखित कुछ एक दृष्टांतों से यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद का ऐतिहासिक पक्ष इतना अंधकारमय नहीं है, जैसा कि समझा जाता है। **द्वितीय खंड** में इसी पक्ष का उद्धार किया जायगा।

(३) भौगोलिक पक्ष

वेद के भाष्यों के संबंध में धार्मिक तथा ऐतिहासिक पक्षों के सदृश ही भौगोलिक पक्ष भी बहुत ही अधिक महत्त्व-पूर्ण है। ऋग्वेद में आनेवाले भौगोलिक शब्द जिन जिन देशों, नगरों तथा ग्रामों को सूचित करते हैं यदि उनका पता लग जाय तो एक ओर ऋग्वेद के अर्थ करने में सुगमता हो जाय और दूसरी ओर हजारों वर्षों से वेदों के विकास का रहस्य जो आज तक नहीं खुला वह भी खुल जाय और साथ ही साथ आर्य जाति के इतिहास बनाने का काम सुगम हो जाय। वह भौगोलिक पक्ष कितना महत्त्व-पूर्ण है इसका ज्ञान इसी से हो सकता है कि ऋग्वेद में सुमेर से मिस्र तक के सैकड़ों देशों के नाम आते हैं जिनमें से कुछ एक का ज्ञान नीचे दिए हुए विवरण से हो सकता है, यद्यपि इस संबंध में विशेष विचार तो तृतीय-खंड में ही किया जायगा।—

इषंपुर—वेद के **आन इंद्र महीम् इषंपुरं नद् अर्षि गोमतीम्** (ऋग्वेद, मं० ८ सूक्त ६, मंत्र २३) आदि स्थलों में जहाँ कहीं पर **इषंपुर** का उल्लेख है, उसका तात्पर्य सुमेर-अक्काद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के इषिपुर [Ishin] से है। यहाँ के निवासियों को ऋग्वेद में **नीचीन देव** के नाम से लिखा है।

ऊमा—वेद के **ऊमावा ये सुहवासो** [ऋग्वेद—मंडल ३, सूक्त ६, मंत्र ८] आदि स्थलों के **ऊमा** से वैदिक ऋषियों का तात्पर्य सुमेर-अक्काद के **उम्मा** (Umma) नामक नगर से प्रतीत होता है।

अवन्—ऋग्वेद का **अवन्** सूसा के पास के **अवन्** (Awan) नामक नगर को सूचित करता है। वहाँ के राजा अपने आपको मह्-अवन् = मघवन् की उपाधि से विभूषित करते थे। समयांतर में यह आर्य राजाओं की एकमात्र उपाधि रह गया।

उर्—बैबिलोनिया के **उर्** नामक नगर को ऋग्वेद में **उरु** शब्द के द्वारा कई स्थलों में सूचित किया है।

शर्भू—ऋग्वेद में शर्भू, शर्द्ध, जर्भू आदि शब्द कैल्डिया को प्रकट करते हैं। यहाँ के राजा की उपाधि **शर्द्धो** थी।

राजस्, रायस्—ऋग्वेद में बहुधा राजस्, रायस् आदि शब्दों के द्वारा सुमेर-अक्काद के नगर **लजस्** [Lagas] को सूचित किया है।

समर्य—ऋग्वेद में **समर्य-राज्य** से तात्पर्य लघु एशिया के सिमर्य राज्य [Simarya-kingdom] से है। समर्य या सिमर्य एक बड़ा भारी बन्दरगाह था और विद्या का केंद्र था।

तुतुर्—ऋग्वेद का **तुतुर्** ततुरि नामक नगर को सूचित करता है। यह उत्तरीय बैबिलोनिया में व्यापारीय केंद्र था। ऋग्वेद में **तुतुर्वणि** शब्द कई जगह आया है।

रुरु—ऋग्वेद में **रुरु-भू** के रूप में आया **रुरु** शब्द **ईलम्** के पास **लुलु** नामक स्थान को प्रकट करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईर्म—ऋग्वेद में **ईर्म** शब्द कई स्थलों में ईलम् [Elam] नामक नगर को प्रकट करता है।

शिप्र—सुम्मेर-अक्काद के **शिप्पर्** [Sippar] को ऋग्वेद में **शिप्र** शब्द द्वारा प्रकट किया है।

शूष्—सूसा [Susa] नामक ईरान् के प्रसिद्ध नगर के लिये ऋग्वेद में **शूष्** शब्द आता है। कुछ जगहों में यह अन्य अर्थों को भी सूचित करता है।

तावि॒रू—अश्विन् मंत्रों के **तावि॒रू** से तात्पर्य उत्तरीय बैबिलोनिया के उत्तरीय भाग में स्थित **हावि॒रू** से है।

विप्रराज्य—ऋग्वेद के **विप्रराज्य** में **विप्र** शब्द वस्तुतः बिब्लस (Biblos) नामक फिनीशिया के बंदरगाह को सूचित करता है।

पुरु देश—ऋग्वेद में पुरु देश से तात्पर्य **हित्त** देश से है।

ऋग्वेद में आनेवाले कुछ एक नगरों तथा देशों के नामों का क्या तात्पर्य है, यह उपरिलिखित विवरण से स्पष्ट है। तृतीय खंड में भौगोलिक पक्ष पर पूर्ण रूप से विचार किया जायगा और ऋग्वेद में आनेवाले कई सौ भौगोलिक नामों पर प्रकाश डाला जायगा। उसी में यह भी प्रकट किया जायगा कि किस प्रकार ब्राह्मणों की **अथर्वन्** शाखा सीरिया के **अथर्व** नगर से संबद्ध है। **पैठानस, मांडूक्य तैत्तिरी** आदि शब्दों के रहस्यों को भी उसी में खोला जायगा। ऋषि-महर्षियों की जन्मभूमि कहाँ थी, वेद कहाँ बने, क्या उनका प्रयोजन था, इन सभी प्रश्नों पर **भौगोलिक-पक्ष** के द्वारा अपने आप प्रकाश पड़ेगा।

उपरिलिखित **धार्मिक, ऐतिहासिक** तथा **भौगोलिक पक्षों** को मिलाकर जब ऋग्वेद की आलोचना की जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद का जितना घनिष्ठ संबंध सुमेर से लघु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एशिया तक के देशों के साथ है उतना भारत के साथ नहीं है। बहुत संभव है कि ऋग्वेद के ऋषियों की मातृभूमि भारतवर्ष न थी। या यह ग्रंथ सुमेरियन आदि किसी भाषा के ग्रंथों का अनुवाद है। यदि ऐसा नहीं है तो इसका विकास उस समय के साथ संबद्ध है जब कि फिनीशिया तथा हित्त के पौरव राजाओं ने बैबिलोनिया को जीता और भारत में पदार्पण किया।

प्रथम खंड

ऋग्वेद की सृष्टि-उत्पत्ति-विषयक गाथा तथा जंबुद्वीपीय तांत्रिक प्रथा

प्रथम परिच्छेद

सृण्येव जर्भरी तुर्फरी मंत्र की समस्या

ऋग्वेद के मंडल १०, सूक्त १०६ के एक से ग्यारह तक मंत्र कई हजार सालों से संस्कृत के विद्वानों के लिये समस्या रहे हैं। चार्वाक भला कब चूकने लगे। उन्होंने इनके आधार पर तीनों वेदों पर ही अपना फ़तवा दे दिया कि इन ग्रंथों के बनानेवाले भंड, धूर्त तथा निशाचर हैं। उन्होंने साथ ही ताना भी मारा कि "इन पंडितों की भाषा जर्भरी तुर्फरी आदि मानी जाती है" जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट है—

त्रयो वेदस्य कर्त्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः।
जर्भरी तुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्॥

[सर्वदर्शनसंग्रह—चार्वाक दर्शन, पृ० ११, वेंकटेश्वर प्रेस, संवत् १९८२]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सायण ने भी अपने ऋग्वेद भाष्य में इस बात को स्वीकृत किया है कि **जर्भरीतुर्फरी** आदि मंत्रों का अर्थ समझ नहीं पड़ता। वे लिखते हैं कि—

तत्र मंत्राः केचिदबोधकाः। अम्यक् सात इंद्र ऋष्टिरित्येको मंत्रः। यादृश्मिन् धायितम यस्य यावददित्यन्यः। सृण्येव जर्भरी तुर्फरी तू इत्यपरः। आपांत मन्युस्तृफल प्रभर्मेत्यादय उदाहार्याः। नह्येतैर्मन्त्रैः कश्चिदप्यर्थोऽवबुध्यते। एतेष्वनुभव यदा नास्ति तदा तत्सम्यक्त्वं तदीयसाधनत्वं च दूरापेतं।

[ऋग्वेद, भूमिका, पृ० ७। हितचिंतक प्रेस, बनारस। सन् १९३३]

उपरिलिखित उद्धरण का तात्पर्य यह है कि—

"बहुत से मंत्र क्लिष्ट हैं, उनका अर्थ समझ नहीं पड़ता। **अम्यक् सात इंद्र ऋष्टि** यह एक मंत्र है। **यादृश्मिन् धायितम यस्य यावदद्** यह दूसरा। **सृण्येव जर्भरी तुर्फरी तू** यह तीसरा। **आपांत मन्युस्तृफल प्रभर्म** यह चौथा है। इन मंत्रों से कुछ भी अर्थों का बोध नहीं होता है। जब इन मंत्रों के संबंध में अनुभव ही नहीं है तब उनकी अच्छाई को प्रकट करना तथा उनको साधन में लाना दूर रहा।"

जिन मंत्रों के कारण चार्वाकों ने वेदों को भंड धूर्त्त तथा निशाचर की कृतियाँ बनाया तथा जिनकी व्याख्या में सायण ने स्वयं ही स्वीकृत किया कि वह असमर्थ है, उन मंत्रों को नीचे दिया जाता है—

उभा उ नूनं तदिदर्थयेथे वि तन्वाथे धियो वस्त्रापसेव।
ऊर्ध्वीचीना यातवे प्रेमजीगः सुदिनेव पृक्ष आ तंसयेथे॥ १॥
उष्टारेव फर्वरेषु श्रयेथे प्रायोगेव श्वात्र्या शासु रेथः।
दूते वहिष्ठो यशसा जनेषुमापस्थातं महिपेवावपानात्॥ २॥
साकं युजा शकुनस्येव पक्षा पश्वेव चित्रा यजुरा गमिष्टम्।
अभिरिव देवयोर्दी दिवांसा परिज्मानेव यजथः पुरुत्रा॥ ३॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपी वो अस्मेपितरेव पुत्रोग्रेव रुचानृपतीव तुर्यै।
इर्यैव पुष्ट्यै किरणेव भुज्यै श्रुष्टीवानेव हवमागमिष्टम् ॥ ४ ।
वंसगेव पूपर्या शिम्बाता मित्रेव ऋता शतरा शातपन्ता।
वाजे वोढा वयसा घर्म्ये ष्ठामेपेवेषा सपर्या ३ पुरीषा ॥ ५ ॥
सृण्येव जर्भरी तुर्फरी तू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमनामदेरू तामे जरायवजरं मरायु ॥ ६ ॥
पत्रेव चर्चरं जारं मरायु क्षत्रेवार्थेषु तर्तरीथ उग्रा।
ऋभू नापत्खरमज्रा खरज्रुर्वायुर्न पर्फरत्क्षयद्रयीणाम् ॥ ७ ॥
घर्मेव मधु जठरे सनेरू भगेविता तुफरी फारिवारम्।
पतरेव चचरा चन्द्र निर्णिङ्मनऋङ्गा मनन्या ३ न जग्मी ॥ ८ ॥
बृहन्तेव गम्भरेषु प्रतिष्ठां पादेव गाधं तरते विदाथः।
कर्णेव शासुरनु हि स्मरायोंऽशेव नेा भजतं चित्रमग्नः ॥ ९ ॥
आरङ्गरेव मध्वेरयेथे सारघेव गविनीचीन वारे।
कीनारेव स्वेद मासिष्विदाना क्षामे वोर्जा सूयवसात्सचेथे ॥ १० ॥
ऋध्याम स्तोमं सनुयाम वाजमानो मन्त्रं सरथे हो प यातम्।
यशो न पक्वं मधु गोष्वन्तरा भूतांशो अश्विनोः काममप्राः ॥ ११ ॥

[ऋग्वेद, मंडल १०, सूक्त १०६]

उपरिलिखित मंत्रों में—जर्भरी तुर्फरी तू नैतो शेव तुर्फरी पर्फरीका, जेमना मदेरू तामे, जरायु, मरायु, पत्रेव चर्चरं जारं मरायु, ऋभू नापत् खरमज्रा खरज्रुर् सनेरू, फारिवारम्, पतरेव चचरा चन्द्र निर्णिङ्मनऋङ्गा मनन्या ३ न जग्मी—आदि शब्दों की इतनी अधिकता है कि स्वाभाविक है कि संस्कृत पंडितों को इनके अर्थों को समझने में कठिनाई प्रतीत हो। जब संकल्प में **जंबूद्वीपे भरतखंडे** वाक्य को ब्राह्मणों ने सैकड़ों सालों से हिंदू जाति से कहवाया और जैनियों ने अपने तीर्थंकरों तक की उत्पत्ति जंबूद्वीप के पुक्ख द्वीप आदि भागों में मानी तथा जंबू समास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि ग्रंथ लिखकर जंबू द्वीप को बराबर स्मरण रक्खा, इस दशा में यदि इन मंत्रों की व्याख्या करने के लिये जंबू द्वीप के दूरवर्ती भागों में जाना आवश्यक हो तो आश्चर्य करने की आवश्यकता नहीं है।

द्वितीय परिच्छेद

उत्पत्ति की गाथा

सृण्येव जर्भरी तुर्फरी तू सूक्त के प्रथम मंत्र पर यदि गंभीर रूप से विचार किया जाय तो निम्नलिखित शब्द हैं जिनका अर्थ संस्कृत-भाषा के द्वारा जाना जा सकता है।

(१) **उभाः**—संस्कृत भाषा में **उभ** तथा **उभय** दो के अर्थ में आता है।

(२) **वस्त्रापसेव**:—**उप** तथा **अप** उपसर्गों में भेद है। **अप**[1] बहुधा अर्थ को उलट देता है। **उपसेव** तथा **अपसेव** एक दूसरे से विपरीत अर्थों को सूचित करते हैं। यदि **वस्त्र-उप-**

---

(१) अप शब्द के संबंध में श्रीयुत आप्टे लिखते हैं कि:—

"अप ind, I (As a prefix to verbs it means) (*a*) Away from; अपयाति, अपनयति ; (*b*) deterioration. अप करोति does wrongly or badly; (*c*) opposition, negation, contradiction, अपकर्षति, अपचिनोति; (*d*) exclusion, (वर्जन)·····

As a separable preposition (with a noun in the abl.) (*a*) away from ; यत्संप्रत्यय लोकेभ्यो लंकायां वसति-र्भयात् BK. 8. 87 (*b*) without, on the outside of ;·····"

[देखो संस्कृत-इंग्लिश-डिक्शनरी—शब्द अप]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेव कपड़े पहिने हुए अर्थ को सूचित करे तो बहुत संभव है कि **वस्त्रापसेव** का नग्न अर्थ हो। आर्य भाषा के अति प्राचीन सुमेरियन-संस्कृत-प्राकृत-कोष के अनुसार, जो कि इस ग्रंथ के द्वितीय भाग में दिया जायगा, वस्त्रापसेव की **वस्त्र-अप्-असूअ अइव** व्युत्पत्ति होगी और इसका अर्थ **संसार के उत्पादक** (अ अ) **लोग** (असू) **बिना** (अप=अव्=अव्) **वस्त्र** (वस्त्र) **के होगा**। दोनों ही व्युत्पत्तियों में कोई विशेष भेद नहीं है। मुझको तो दूसरी व्युत्पत्ति ठीक प्रतीत होती है क्योंकि शब्द **वस्त्रापसाइव** है।

(३) **सध्रीचीना:**—आप्टे के अनुसार सध्रीचीना का अर्थ सहधर्मिणी वा पत्नी है।

(४) **यातवे:**—आप्टे के अनुसार **यातु** शब्द संस्कृत में **इधर उधर फिरनेवाले** या **यात्री** के अर्थ में आता है।

(५) **प्रेमजीग:**—संस्कृत में **अजीगर्त** साँप को कहते हैं। **अजीग** अजीगर्त का पूर्व रूप प्रतीत होता है। बैबिलोनिया आदि देशों में भी साँप के लिये **अजी:** शब्द का प्रयोग रहा है (देखो **सैमिटिक माइथोलोजी**, पृ० १३०), प्रेम शब्द का अर्थ संस्कृत में **प्रीति** है। बहुत संभव है कि यहाँ इसका अर्थ **प्राण, जीवन** के सदृश कोई अर्थ हो। **प्र-अन्, प्र-इन्** के रूप में **प्रेम्** की व्युत्पत्ति करनी पड़ेगी, यदि यह शब्द प्राचीन भाषा से संबद्ध है।

(६) **पृक्ष:**—**पृक्ष** शब्द **वृक्ष** शब्द का रूपांतर है। **व** तथा **प** का पारस्परिक संबंध दीव, दीप; पाट, वाट आदि शब्दों से स्पष्ट है। **पृक्ष** के सदृश ही **प्लक्ष** शब्द है। इसकी पूजा आज भी भारतवर्ष के हिंदुओं में जगह जगह पर प्रचलित है।

(७) **वितन्वाये धियो:**—संस्कृत में **धी** बुद्धि को और **तन्** विस्तार करने के अर्थ को सूचित करता है। बहुत संभव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि **वितन्वायेधियेा** का **बुद्धि का विस्तार करते थे** ऐसा अर्थ हेा।

उपरिलिखित शब्दों के सदृश **सुदिनेव** शब्द में **सुदिन** शब्द है। संस्कृत भाषा के द्वारा इसके अर्थ का ठीक ठीक पता नहीं चलता। मंत्र में **सुदिन** से पूर्व **प्रेमजीगः** शब्द है। इससे **सुदिन** साँप का नाम प्रतीत होता है इसलिये **सुदिन** को **सुतिन** का रूपांतर मानने में कुछ भी हानि नहीं है। **सुतिन** साँप का उत्पत्ति-गाथा में जेा संबंध है उसका बैबिलोनियन पुराणों में प्रायः उल्लेख मिलता है जैसा कि प्रोफेसर लैंग्डन् के लिखे हुए ग्रंथ के निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट है:—

"**इषुम्** तथा **इळा** की उत्पत्ति-संबंधो गाथा की कविता इळा की क्रोध-शांति तथा इषुम् की बैबिलोनिया की समृद्धि-विषयक भविष्य-द्वाणी के साथ ही समाप्त हेा जाती है। उसने इषुम् के शब्द सुने और उसका मुख प्रसन्नता से दमक उठा। वह **एमेश्लम्** में प्रविष्ट हुआ और सिंहासन पर बैठा। उसने **इषुम्** को बुलाया और अक्काद् [ऋग्वेद का गाहे, गाधे तथा पुराणों का गाधि] के तितर-बितर हुए लेागों में भविष्यद्वाणी की घेाषणा की कि :—

'देश में बहुत थेाड़े लेाग रह गए हैं, पुनः वह संख्या में बढ़ जायँ।

वह अपने अपने मार्ग पर चलें, दरिद्र दुखिया बहुतायत का एक भाग हेां।

निराश्रित तथा अनाथ अकेडियन **सुतिन** के राज्य को पलट दे।

एक भेड़ों के तरह **सातों देवों** को उलट पलट दे।

उनके नगरों को उजाड़ दे और उनके पर्वत को वीरान कर दे'[1]।"

---

(१) **सुतिन** (Sutean) का उत्पत्तिगाथा में जेा संबंध है वह निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट है:—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुतिन के संबंध में प्रोफेसर लैंग्डन ने विशेष रूप से कुछ भी अधिक नहीं लिखा। जिस सुतिन के राज्य को अक्काद के लोग उलटना चाहते थे वस्तुतः उसका संबंध मिश्र तथा लघु एशिया से प्रतीत होता है। मिश्र देश में सुतिन राजा की पदवी थी। वहाँ के राजाओं का **साँप** चिह्न था। मिस्र के दो विभागों में एक को **पक्षि** से और दूसरे को **साँप** से सूचित करते थे।

ऋग्वेद के मंत्र में यदि **सुदिन** मिस्र या लघु-एशिया के राजाओं के **सुतिन** से संबद्ध है, इस दशा में उसका प्रेम रूपी साँप किसी बुरे अर्थ को नहीं सूचित करता है। **इषुस्** ईरान् से लघु एशिया तक के सभी देशों में **दया के देवता** के रूप में पूजा जाता था। जब कभी लोगों पर विपत्ति पड़ती थी, उसी का आह्वान किया जाता था। इस प्रकार यदि हमारी उपरिलिखित-व्याख्या में कुछ भी सचाई

"The poem ends with Irra's appeasement and a prophecy of a new age of prosperity for Babylon. He heard Ishum's words and his face beamed with pleasure. He entered Emeslam and sat on his throne, summoned Ishum, and announced a prophecy for the scattered people of Accad.

'The peoples of the land are few, let them again become many.

Let them enter on their way, the destitute as one of abundance.

The orphaned Accadian shall overthrow the *Sutean*.

One shall overturn seven like sheep.

Their cities thou shalt turn to ruins and their mountain to a wilderness'."

[Semitic Mythology, p. 146]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है तो **जर्भरी तुर्फरी** मंत्र के शब्दों का रहस्य लघु एशिया के पुराणों की गाथाओं में छिपा है जहाँ **सुतिन** बुरे अर्थ में नहीं प्रचलित था और **इषुम्** की भी पूजा होती थी।

उपरिलिखित व्याख्या के अनुसार प्रथम मंत्र—उभा उ नूनं तदिदर्थयेथे वितन्वाथे धियो वस्त्रापसेव। सध्रीचीना यातवे प्रेमजीगः सुदिनेव पृक्ष आतं सयेथे ॥१॥—का निम्नलिखित अर्थ हुआ :—

"हे अश्विन्! तुम दोनों [उभा] बिना वस्त्र में रहनेवाले उत्पादकों की तरह [वस्त्रापसेव] साथ साथ रहते हुए [सध्रीचीना] तथा इधर उधर फिरते हुए [यातवे] सुदिन नामक [सुदिन] प्रीति गाथा के साँप [प्रेम जीगः] के सदृश [इव] पेड़ [वृक्ष] को शोभित करते हो [आतंसयेथे], बुद्धि को बढ़ाते हो [वितन्वाथे धियो] तथा हमारी कामना को मानते हो [तदिदर्थयेथे]"[1]।

---

(१) सायण ने इस मंत्र का अर्थ दूसरे रूप से किया है। उन्होंने **वस्त्रापसेव** के संबंध में लिखा है कि:—

"तत्र दृष्टांतः—अपसेव अपसा अपस्विनौ कुविंदौ यथा वस्त्रा वस्त्राणि विस्तारयतः अपः शब्दान्मत्वर्थीयो विनिः तस्य बहुलं छंदसीति लुक् प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तः।"

अपसा [जुलाहे] जैसे वस्त्रों को फैलाते हैं उसी प्रकार वह दोनों बुद्धि का विस्तार करते थे। अभाग्य से आप्टे ने **अपस** शब्द ही नहीं दिया। उसका अर्थ **जुलाहा** तो दूर रहा देना। वैदिक ऋषि **भूतांशु** को क्या कोई और चीज नहीं मिली जिससे बुद्धि के विस्तार करने की उपमा देते? धोबी कपड़े सुखाने के लिये फैलाता है और जुलाहा ताना बाना बुनता है। जब जुलाहा कपड़ा भी तानता है तो बहुत थोड़ी जगह लेता है।

इसी प्रकार सायण ने **पृक्ष** शब्द का अर्थ **अन्न** दिया है। **पृक्ष आतंसयेथे** का अर्थ उनके अनुसार **अन्नान्यलंकुरुतः** भोजन आदि की शोभा बढ़ाओ। सायण ने **पृक्ष** का अर्थ **अन्न** दिया है परंतु उस कोष का नाम नहीं दिया जिसमें इसका **ऐसा** अर्थ दिया है। आप्टे में **पृक्ष** कोई ऐसा शब्द ही नहीं है। मेरी समझ में तो **पृक्ष** संस्कृत के **वृक्ष** शब्द का **वैदिक रूप** है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपरिलिखित अर्थ को समझने के लिये यह आवश्यक है कि नीचे दिए हुए बैबिलोनियन-इष्टिका के चित्र को आँख के सामने रखा जाय।

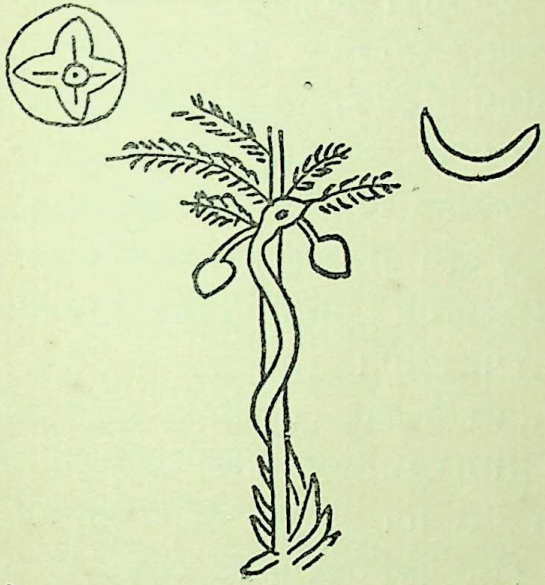

[प्रो० लैंग्डन के सेमिटिक माइथोलोजी नामक ग्रंथ से उद्धृत]

चित्र में एक पेड़ है, उसमें दो फल लगे हैं। एक साँप पेड़ पर लिपटा है। पेड़ के एक ओर सूर्य तथा दूसरी ओर चाँद शोभायमान है। यदि उपरिलिखित वैदिक गाथा किसी भी रूप से इस चित्र से या इसके सदृश किसी अन्य चित्र से संबद्ध है, उस दशा में यह कहना अनुचित न होगा कि ऋग्वेद का अश्विन् वस्तुतः सूर्य तथा चंद्रमा के योग का नाम है। सूर्य उसमें पुरुषत्व को या

संस्कृत में प्लक्ष शब्द भी वैदिक **पृक्ष** से मिलता जुलता है। हिंदू जाति में प्लक्ष बहुत ही पवित्र वृक्ष माना जाता है।

सायण समझते हैं कि दिन के प्रवर्त्तन करने के कारण **सुदिन** सूर्य तथा चंद्र का नाम है। यह अर्थ भी संस्कृत कोषों में प्रायः नहीं मिलता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिव को और चंद्रमा मातृत्व-शक्ति या शक्ति को सूचित करता है। शिव तथा शक्ति के योग का नाम ही अश्विन् है। पेड़ में लगे फल इन्हीं दो तत्त्वों को सूचित करते दिखाए गए हैं। उनके नीचे पेड़ पर प्रेम रूपी साँप [प्रेमजीगः] है जिसके कारण दो तत्त्व आपस में मिलते हैं तथा संसार की उत्पत्ति का कारण बनते हैं। ऋग्वेद के ऋषि के सम्मुख बाइबिल् की, **आदम, हव्वा** तथा **साँप** के सदृश कोई प्राचीन उत्पत्ति की गाथा अवश्य ही रही होगी जिसके कारण उसने **बिना वस्त्र में रहनेवालों की तरह** [वस्त्रापसेव], **साथ साथ रहनेवाले** [सध्रीचीना], **यातवे** [इधर उधर फिरनेवाले], **बुद्धि का विस्तार करते थे** [वितन्वाथे धियो] यह लिखा।

सूर्य तथा चंद्र या शिव तथा शक्ति या आदम तथा हव्वा को दो फलों के द्वारा प्रकट करना बैबिलोनिया आदि प्रदेशों में एक प्रथा-सा बन गया था। वेदों के मंत्रों के रचयिता इस प्रथा से अनभिज्ञ न थे और बहुत संभव है कि वह स्वयं ही इस प्रथा के जन्मदाता हों, जैसा कि निम्नलिखित मंत्रों से स्पष्ट है:—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ २० ॥
यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनोविश्वस्य भुवनस्य गोपाः समाधीरः पाकमत्राविवेश ॥ २१ ॥
यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधिविश्वे।
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नो न शद्यः पितरं न वेद ॥ २२ ॥

[ऋग्वेद मंडल १, सूक्त १६४]

उपरिलिखित दिए हुए **यत्रा सुपर्णा** आदि मंत्रों में वैदिक **सुपर्णा** संस्कृत के **सुवर्णा** [**प** तथा **व** का संबंध दीप, दीव, पाट, वाट आदि शब्दों से स्पष्ट है] का पूर्वरूप प्रतीत होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि यह अनुमान सत्य है तो **सुपर्णा** का अर्थ **सुवर्णा** अर्थात् **शोभन वर्णवाले सूर्य तथा चंद्र** होगा[1] ।

(१) बहुत संभव है कि ईसा से तीन सौ, चार सौ साल पहले के बने व्याकरण के पंडित उससे हजार से ऊपर सालों के बने वैदिक मंत्रों के विषय में यह कहें कि **सुपर्णा** बहुवचन में होने से सूर्य तथा चंद्र रूपी दो चीजों को नहीं सूचित कर सकता। इसका उत्तर यह है कि मंत्र बीस में **द्वा सुपर्णा** तथा **तयोरन्यः** द्वित्व को सूचित करता है। अब प्रश्न यह है कि वेद में **द्वा सुपर्णौ** के स्थान पर **द्वा सुपर्णा** क्यों लिखा? विचित्र बात तो यह है कि इक्कीसवें मंत्र में **विदथाभिस्वरन्ति** में **बहुवचन** तथा **मध्वदः सुपर्णा** में पहिला **एकवचन सा** [वस्तुतः यह बात नहीं है। इस विषय पर द्वितीय भाग में प्रकाश डाला जायगा] और दूसरा **बहुवचन सा** है।

इस ग्रंथ के दूसरे तथा तीसरे भाग के **उपक्रम** में यह दिखाया जायगा कि हिंदी तथा उत्तर-भारत की लौकिक भाषाएँ संस्कृत से नहीं निकली हैं। दोनों का संबंध बहिन तथा भाई का है और दोनों की माता एक है। हिंदी तथा उत्तर-भारतीय भाषाओं का संस्कृत से जो नाता है उसका निम्न-लिखित विश्लेषण से ज्ञान हो सकता है।

१—**वचन**—संस्कृत में प्रथम, द्वितीय तथा बहुवचन हैं, हिंदी तथा उत्तर-भारतीय भाषाओं में केवल एकवचन तथा बहुवचन हैं। द्वितीय वचन नहीं मिलता।

२—**लिंग**—संस्कृत में तीन लिंग—पुँल्लिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसक लिंग—हैं, परंतु हिंदी आदि लौकिक भाषाओं में केवल दो लिंग।

३—**लकार**—वैदिक लकार को मिलाते हुए संस्कृत में दस लकार हैं। हिंदी में इससे लगभग आधे।

४—**विभक्ति**—हिंदी की विभक्तियों में षष्ठी का **का** पाँच हजार साल पुराना है। संस्कृत के **स्य** से उसको निकालना उचित नहीं है। इसी प्रकार हिंदी की कुछ-एक और भी विभक्तियाँ पुरानी हैं।

५—**मानसिक भेद**—हिंदी भाषा-भाषियों तथा संस्कृत के विद्वानों की विचार-प्रणाली भी भिन्न है। मनुष्य तथा स्त्री में कोई कुछ करे संस्कृत-वालों को कुछ भी भेद नहीं सूझता। हिंदीवालों के लिये जब स्त्री चले तो **चलती है** और जब पुरुष चले तो **चलता है**। यदि यह कहा जाय कि **चलती** तथा **चलता** धातु का भाग नहीं है तब तो संस्कृत तथा हिंदी में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar
NOT TO BE ISSUED

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पूर्व ही लिखा जा चुका है कि जंबू-द्वीप में पूजा तथा पाठ का एक ढंग न था। शिव तथा शक्ति की पूजा भिन्न भिन्न

भेद और बढ़ जायगा। इसी प्रकार शब्दों की विभक्तियाँ संस्कृत में स्थिर रहती हुई बहुत चीजों को सूचित कर सकती हैं परंतु हिंदी की विभक्तियाँ बहुधा डोल जाती हैं। संस्कृत में **मकान** एक हो चाहे अधिक हों षष्ठी में **स्य** स्थिर रहेगा परंतु हिंदी में **का** मकानों के बहुत होते ही **के** हो जायगा, चाहे उसका स्वामी एक ही हो।

६—**प्राचीन शब्दों का आधिक्य**—हिंदी में मल्लाह, **सिकड़ी, गऊ** आदि शब्दों की भरमार है जो कि संस्कृत से पुराने हैं। आजकल यह प्रथा बन गई है कि हिंदी के सब शब्दों का विकास संस्कृत से ढूँढ़ना। यह उन लोगों के लिये स्वाभाविक है जिनको संस्कृत से भी पुरानी भाषा का ज्ञान न हो। **राणा** शब्द को ही लीजिए। यह शब्द भी प्राचीन है और इसका विकास मिस्र में है। मिस्र के **क्** तथा **र** से जो जो वंश चले उनको ऋग्वेद में **क्-राणा** तथा **र-राणा** के नाम से सूचित किया है। इस विषय पर विशेष विचार प्रथम भाग के द्वितीय खंड में किया जायगा। हमारा जो कुछ तात्पर्य्य है वह यही है कि **राणा** की पुरानी व्युत्पत्ति **र्-अन्न** है। इसको संस्कृत व्याकरण से निकालना उचित नहीं है। इसी प्रकार **पेड़** तथा **बिड** दोनों ही एक जमाने के हैं, कौन किससे निकल सकता है?

यदि वेदों के **द्वा-सुपर्ण** आदि मंत्रों में **हिंदी-प्रथा** का अनुसरण किया गया है तो उसमें कौन सी विचित्र बात हो गई? **द्वा** के द्वारा **दो** सूचित किया है और **सुपर्ण** को संस्कृतवालों की प्रथा के अनुसार **सुपर्णौ** न रखकर हिंदी भाषा-भाषियों की तरह वैदिक ऋषि ने **सुपर्णा** में बहुवचन कर दिया है। हिंदी-साहित्य के विद्वान् इस प्रश्न को यदि उचित रूप से ले लें तथा इसका अन्वेषण करें तो उनको और भी बहुत सी नई बातें मालूम पड़ जायँ। भाषाओं का संबंध **शब्दों** से इतना नहीं सूचित होता है जितना कि **प्रणाली** से। जब यह ढूँढ़ना है कि **सिंध** नदी कहाँ से निकली तो इसका ज्ञान इससे थोड़े ही होगा कि नदी में कौन नदी कितना पानी लाई। अधिक पानी **काबुल** से और चाहे **हिंदुकुश पर्वत** से आवे, सिंध का विकास तो **तिब्बत** में ही रहेगा। हिंदी में शब्द चाहे फारसी, अरबी, अँगरेजी या संस्कृत के हों, परंतु उसके उद्भव का पता तो बोलचाल की ढाल या प्रणाली से ही लगेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूपों में भिन्न भिन्न ढंग से होती थी। आज से पाँच हजार साल पहले पट्टल् [मोहेंजोदारो] तथा सर्प या सरप [हरप्पा] नगर के रहनेवाले नागों, दानवों, यक्षों, गंधर्वों, किन्नरों आदि में शिव तथा शक्ति को नाग तथा नागिन के रूप में पूजते थे और उनको उत्पत्ति का मुख्य कारण समझते थे। सिंध तथा पंजाब के प्राचीन लोगों में जो उत्पत्ति की गाथा प्रचलित थी उसका सबसे अच्छा उदाहरण नीचे दिया जाता है—

उपरिलिखित चित्र में, बीच में, एक गोला है जो कि बिंदुओं से परिपूर्ण है। चित्र-लिपि के विद्वानों के अनुसार इस ढंग पर रखे बिंदु बीजों को सूचित करते हैं, जो कि उत्पत्ति के स्रोत हैं। नीचे एक भाला है जो कि शक्ति का सूचक है। गोले के दोनों ओर दो साँप हैं जिनमें से एक नाग दूसरा नागिन है। उत्पत्ति की गाथा के पेड़ का स्थान पीपल को दिया है। चित्र को यदि गंभीर रूप से देखा जाय तो प्रतीत होगा कि वस्तुतः शिवजी के त्रिशूल को ही आधार बनाया गया है। त्रिशूल की ऊपर की दो बाहुओं को नागिन तथा नाग का रूप दिया है। बीज-रूप में उनकी उत्पादक शक्ति तथा उसके परिणाम-स्वरूप वृक्षादि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की उत्पत्ति को क्रमशः गोले, भाले तथा पेड़ के द्वारा प्रकट किया है[1]।

प्रथम चिह्न—प-अट् में चतुष्कोण भूमि को सूचित करता है तथा उसको बीच में जो रेखा काटती है उसका तात्पर्य विभाग है। इस प्रकार **पट्** या **पाट्** का अर्थ **विभक्त भूमि** हुआ। **बाट** तथा **पाट, बाड़ा** तथा **पाड़ा** दोनों का अर्थ मालूम है। सिंध की भाषा के **प-अट्** से संस्कृत के **पर, पट, पट्ट** का भी घनिष्ठ संबंध है। जब तक **चतुष्कोण** को डेढ़ रेखा से काटा जायगा तब तक वह **पट्** तथा **वट्** के अर्थ को ही द्योतित करेगा। परन्तु ज्योंही उसको अनेक रेखाओं के द्वारा काटा गया त्योंही उसका उच्चारण **पट्ट** हो जायगा। **पट** तथा **पट्ट** में भेद यह है कि जहाँ पहिला भूमि के बड़े भाग को सूचित करता है वहाँ दूसरा भूमि के छोटे छोटे अनेक विभागों को सूचित करता है।

---

(१) यद्यपि लेख-संशोधन का कार्य चतुर्थ भाग में किया जायगा तथापि मणि के महत्त्वपूर्ण होने से उसका पाठ नीचे दिया जाता है—

प-अट् $\frac{ळ}{इ}$ व-अ-अ-अर् (ळ्)	इअ-त् [ळ्] उ[उत्?]^{८}-उअन्

उपरिलिखित लेख का संस्कृत-स्वरूप **पटेल-बाल-आतून,** या **पट्-इल-वार-यदुम्** आदि हो सकता है। इतने रूपों का मुख्य कारण यह है कि सिंध तथा पंजाब की पुरानी भाषा में ब्राह्मी के अक्षर, व्यंजन तथा स्वर नहीं हैं। सबसे अधिक कष्ट तो यह है कि जिस रूप से सिंध की भाषा लिखी है उसको देखकर यह कहना पड़ता है कि संस्कृत भाषा के कोश तथा व्याकरण से उसके अर्थों को समझने में प्रारम्भ में बहुत सहायता नहीं मिल सकती।

१९३१ से १९३४ तक चार वर्ष लगातार खर्च करने पर उपरिलिखित लेख तथा उसकी भाषा में प्रवेश करने का कुछ मार्ग मिला है। यदि चित्र-लिपि के आधार पर इसका अर्थ किया जाय तो हम निम्नलिखित परिणाम पर पहुँचेंगे—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय चिह्न—दूसरे चिह्न में **एक रेखा** पर **त्रिकोण** को चढ़ाकर भाले का स्वरूप दिया है। जहाँ तक एक रेखा का तात्पर्य है, यह भिन्न भिन्न स्थिति में भिन्न भिन्न अर्थ को दिखाती है। जब मनुष्य के हाथ में यह हो तो उसका अर्थ रक्षक होगा। एक रेखा **शक्ति** को सूचित करती है। जब त्रिकोण एक रेखा पर खड़ा दिखाया गया है तब एक ओर **पर्वत का मुख्य देवता** और दूसरी ओर **त्रित्व** या **त्रिदेवता** या **त्रिपुरा की मुख्य आधारभूत शक्ति** इत्यादि अर्थ को इससे सूचित होता है। एक रेखा का उच्चारण **इड्** था जो कि ग्रीक् भाषा के तथा जर्मनी के AE के उच्चारण से मिलता जुलता है। त्रिकोण का उच्चारण **ळ** है जो कि आगे चलकर ब्राह्मी के **ड** तथा **ल** और कुछ अंशों में **ड** तथा **ल** से **र**, **ट** तथा **त** में परिवर्त्तित हो गया है। इस प्रकार एक रेखा पर चढ़े त्रिकोण का पाठ **इळ** होगा जो कि संस्कृत भाषा के **इळ**, **इट**, **इल** आदि शब्दों में से किसी के समान हो सकता है। इसका कुछ लोग **लि**, **ळि**, **ळे**, **ले** आदि भी पाठ करते थे।

प्रथम तथा द्वितीय चिह्न का संयोग—जब हम प्रथम तथा द्वितीय चिह्न को जोड़ते हैं तब **पट-इल** [पटेल], **पर-इत** [परेत], **पट्-इल्** [पटिल], आदि पाठ निकलता है। जिन देशों से सिंध के लोगों का संबंध है उनमें चिरकाल तक **इल्** [El] शब्द सूर्य, चंद्र, इंद्र आदि के लिये आता था। इसका स्त्रीलिंग **इळा** संस्कृत में प्रचलित रहा जो कि **मातृशक्ति** के अर्थ को प्रकट करता है।

तृतीय चिह्न—तृतीय चिह्न मछली का है। चित्र-लिपि के अनुसार जिस किसी अर्थ को यह सूचित करता है उसका **पानी** से संबंध होना चाहिए। १९३१ में मैंने जो दो लेख इंडियन 'हिस्टारिकल कार्टर्ली' में दिए थे उनमें ब्राह्मी अक्षरों के आधार पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका उच्चारण **स** मानकर काम चलाने का प्रयत्न किया था। परंतु ज्यों ज्यों परिष्कार के काम में अनुभव बढ़ता गया त्यों त्यों यह प्रश्न उठता गया कि कहीं यह चिह्न भी तो **विभाज्य** नहीं है? अभी भी इसके पाठ के संबंध में कुछ कुछ समस्याएँ हैं। अभी तक तो मैं इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ कि यह चिह्न **उ-अ अ-र्** या **व्-अ अ-ल्** या **व-अ अ-त्** शब्द को सूचित करता है। दोनों ही पाठों में कुछ भी भेद नहीं है, क्योंकि **उ** तथा **र** का उच्चारण क्रमशः **व** और **ल्** तथा **त्** भी प्रचलित था।

द्वितीय तथा तृतीय चिह्न का संयोग—द्वितीय चिह्न का पाठ इल् (El) तथा तृतीय चिह्न का पाठ वार् या बाल् (Va-ar, Va-al, Baal) दिया गया है। इल् (El) तथा बाल् (Baal) का आपस में क्या संबंध है इस पर प्रोफेसर लैंग्डन ने अपने ग्रंथ सैमिटिक माइथोलोजी (पृ० ६५–६८) में पर्याप्त प्रकाश डाला है।

इनका सिंध के लेखों में क्या महत्त्व है, इस पर चौथे भाग में प्रकाश डाला जायगा।

चतुर्थ चिह्न—चतुर्थ चिह्न अ-अ या अइ या इअ है, इसका उच्चारण **य** (Yaw तथा Ea) भी संभव है। इसका तात्पर्य **उत्पादक** तथा **पूज्य** है।

पंचम चिह्न—पंचम चिह्न दो भिन्न भिन्न चिह्नों का संयोग है। प्रथम चतुष्कोण में चार कोने भरे गए हैं और दूसरे चिह्न में गोले के बीच में चड़ खड़ी है। इसका परिष्कार **ल्-ऊँ** है। इस परिष्कार में बहुत सी विकट समस्याएँ है जिनका कुछ कुछ ज्ञान नीचे लिखे पत्रों से हो सकता है।

प्रथम पक्ष—यह पूर्व ही में लिखा जा चुका है कि पुराने राजा रानियों की, देव तथा देवी के रूप में, पूजा करने की प्रथा थी;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि सिंध के लेख का तात्पर्य "बाल्-अग्र-ळुऊँ" या बाल् यळुँ हैं। प्रश्न यह है कि बाल्-अग्र-ळुऊँ किसी राजा का नाम तो नहीं है? यदि है तो वह किसका नाम हो सकता है। बैबिलोनिया के राजाओं की सूची में Merodach-balandan I तथा Merodach-baladan II नाम मिलता है। Merodach बैबिलोनियन पुराणों के Merduk का अपभ्रंश प्रतीत होता है जिसका अर्थ सूर्य है। पट् इल का अर्थ भी **देश का सूर्य** है। Merodach पट्-इल् में भेद यही है कि पहिला बैबिलोनियन भाषा का शब्द और दूसरा सिंधी भाषा का शब्द है। दोनों का अर्थ भी एक है। रहा **बाल् आतून्** तथा baladan दोनों ही एक ही व्यक्ति को सूचित कर सकते हैं। सबसे विचित्र बात यह है कि सम्राट् Baladan का चिह्न त्रिकोण पर चढ़े दो साँपों का था, जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट है—

"It is quite possible that when Nabu's temple-tower is excavated, it will throw some light upon the upper structure of these massive buildings. Meanwhile we possess a piece of evidence which should not be ignored in any discussion of subject. On a boundary-stone of the time of Merodach-baladan I are carved a number of emblems of the gods, including those of Merduk and Nabu, which are set beside each other in the second row. That of Marduk consists of his sacred Spear-head supported by his dragon, that of Nabu being the Wedge or Stilus, also supported by a horned dragon."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[A History of Babylon by L. W. King (ed. 1915) p. 78-79]

उपरिलिखित उद्धरण का तात्पर्य है **मेरेदोखवाल्लादान्** के समय के सीमा-प्रस्तर पर बहुत से देवी-देवताओं के चिह्न खुदे हैं। देव मर्दुक या सूर्य का चिह्न **भाले की नोक** पर सर्प तथा देव **नावु** या नावुग [ऋग्वेद का देव **नाभाक**] का सींगवाले साँप पर आश्रित खुखरी की धार चिह्न है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सिंध की मणि पर यदि किसी राजा का नाम है तो बहुत संभव हो कि वह सम्राट् मर्दुक् बालादान् का हो। इस दशा में इस मणि की तिथि १२०१–११८९ ई० होगी। इससे विपरीत एक और पक्ष है। सिंध की मणि में **वाल्** शब्द बीच के भाले से जुदा कर दिया गया है। इ अ-ळु-ऊँ इकट्ठा है। इसका संस्कृत पाठ यदुँ या यदुं हो जायगा। इस दृष्टि से लेख का देव सम्राट् **यदु** है जिससे यादव वंश चला है। यादव लोग सिंध तथा बिलोचिस्तान की ओर रहते थे। गुजरात में द्वारकापुरी उनकी राजधानी रह चुकी है। रहे पहिले तीन शब्द उनके संस्कृत रूप **पट-दैवत, पट-देवल, पट-ईश्वर** या **पटेश्वर** आदि हो सकते हैं। इतने पाठ कैसे संभव हैं, इसका विशेष विचार चतुर्थ भाग में ही किया जायगा।

द्वितीय पक्ष—यदि अअ-ळुऊँ राजा का नाम नहीं है तो अ-अ-ळुऊँ या **आतून** शब्द का तात्पर्य **सूर्यतेज** है। मिस्र में सूर्य का पुराना नाम **रे** [संस्कृत **तेज** का **ते**] था जो कि सूर्य के **तेज** को सूचित करता था। **परुश्** [Pharaoh] या अमन्-होते [Amenhotep IV] ने अपने राज्य में **रे** के बदले आतून [Aton] शब्द का व्यवहार किया। इस प्रकार श्रीयुत ब्रस्तेड् (Breasted) के अनुसार "Under the name of Aton,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

then, Amenhotep IV introduced the worship of the supreme god; but he made no attempt to conceal the identity of his new deity with the old sun-god, Re." [A History of Egypt. p. 360] अर्थात् अमंहोते चौथे ने मिस्र के **रे** के स्थान पर सूर्य देवता की **आतून** नाम से पूजा चलाई और इसको छिपाने का भी कोई यत्न नहीं किया। ऋग्वेद में भी **आतून** शब्द का व्यवहार है जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट है—

आतून इंद्र मद्यगूधुवानः सोमपीतये हरिभ्यां या ह्यद्रिवः।

[ऋ० मं० ३, सूक्त ४१, मंत्र १]

सिंध मणि पर यदि किसी राजा का नाम नहीं है तो इसका तात्पर्य "देश के देवता बाल आतून" हुआ। इनमें **बाल** मातृशक्ति या इष्टर् या चंद्र देवी को और आतून सूर्य को सूचित करता है। इस प्रकार सिंध की मणि के ऊपर दो साँप चंद्र तथा सूर्य को सूचित करते हैं।

ऋग्वेद के मंत्रों में [ऋग्वेद, १, ४७, ७; ८, ४, १; ८, ६, १४; ८, १०, ५; ८, ४५, २७] में बहुत स्थानों पर **तुर्वशंयदुं**, **तुर्वशेयदौ**, **यदुषु तुर्वशेषु** के रूप में **यदु** तथा **तुर्वश** शब्द इकट्ठे आते हैं। यदि अ्र लु-उँ ऋग्वैदिक **आतून** तथा मिस्र देशीय अतून [Eton] से संबद्ध हैं तो इस दशा में अ्र-ळु-उँ का दूसरा पाठ इ्र-ळु-उँ अर्थात् यदुँ को भी उसी अर्थ को सूचित करना चाहिए। यदि यह अनुमान सत्य है तो **तुर्वश** का अर्थ मेष-राशि [constellation Taurus] होगा। वैदिक **तुर्वश** तथा पाश्चात्य देशीय **तुर्-उस्** [Taurus] या **तुर्-वस्** में कोई भेद नहीं है। इस आधार पर **तुर्वश यदुं** का अर्थ **मेष राशिस्थ सूर्य** हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपरिलिखित पक्ष चतुष्कोण का उच्चारण ळ मानने से पैदा होते हैं। वैदिक तथा सिंध देशीय ळ का दूसरा उच्चारण ल भी प्रचलित था। इसलिये अब तृतीय पक्ष दिया जायगा।

तृतीय पक्ष—वेद में ईळे का ईले पाठ भी मिलता है। सिंध के लेख का ळु-उम् या ळ-उँ, ल उच्चारण के आधार पर लु-उम् या लु उँ हो जायगा। इस प्रकार लैटिन भाषा का **लूमन्** [Lumen] जिसका अर्थ प्रकाश है सिंध के लु-उँ, तथा ळु-उँ. वेद के **तून** और मिस्र के **तोन्** [संस्कृत के अग्निष्-टोम शब्द का इससे क्या संबंध है ? यह प्रश्न भी विचारणीय है] से संबद्ध हो गया। यदि यह संबंध सत्य है तो महर्षि **लोम-पाद** का लौकिक नाम **लोमपद्** होना चाहिए। नाम का अर्थ **लोम** अर्थात् सूर्य का **पद्** अर्थात् **मुख्य पुजारी** [High priest] हुआ [पद शब्द संस्कृत में **पाद** और वेद में **पदा** हो गया है। संस्कृत के लिये देव**पाद**, आचार्य**पाद** आदि शब्दों पर विचार करो]। उपरिखित पक्ष जंबुदीप के मिस्र से सुमेर तथा अक्काद तक के देशों से संबद्ध हैं। **सुमेर** में तथा **अक्काद** में एमे-साल [Eme-sal] उच्चारण प्रचलित था। धार्मिक-ग्रंथों में प्रायः ळ या ड को ह में बदल दिया जाता था। ईरान ह क्षेत्र में और भारत के कुछ भाग स क्षेत्र में हैं। इसलिये **ईरान** तथा **भारत** की दृष्टि से **चतुर्थ पक्ष** का देना भी आवश्यक है।

चतुर्थ पक्ष—सिंध के ळु-उँ या डु-उँ में जब ळ या ड को ईरान-क्षेत्र तथा भारत-क्षेत्र के अनुसार ह तथा स में परिवर्त्तित करते हैं तो हु-ऊँ तथा सु-उँ हो जाता है। क्योंकि उ का उच्चारण व भी प्रचलित था। [द्वितीय भाग में यह दिखाया जायगा कि संस्कृत का **गो** शब्द **ग** तथा **उ** इन दो अक्षरों का योग है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका **गु** उच्चारण **शंगु**, शनि तथा मकर राशि के द्योतक **पंगु** में, **गव** उच्चारण **गवय** तथा **गवाक्ष** में, **गभ** उच्चारण **गभस्तिमान्** में, **ग उ** दैशिक भाषाओं में; इसका प्रतिलोम **उ ग, भग** तथा **भगवन्** में, शिव तथा रुद्र अर्थ के द्योतक उग्र में प्रचलित रहा]। इसलिये इनसे संस्कृत के **सुवन** [सूर्य, अग्नि तथा चंद्र का सूचक—देखो आप्टे **सुवन**], **सूना** [प्रकाश-रश्मि], **सुनु** (सूर्यः **सु-उन्** में अंतिम **उन्** का प्रतिलोम **नु** होगा, **उग्रन्** सिंध-लिपि का **ग्रन्-उ** होगा। **ग्रनु** सिंध के पच्छिम में आकाश के देवता **सूर्य** के लिये प्रचलित था। **सु-नु** तथा **सु-ग्रनु** दो व्युत्पत्तियाँ संभव हैं। **सूनु** जब बालक को सूचित करता है तो उसमें **नु** मनुष्य-वाचक है; यह **नु** दूसरे रूप से लिखा जाता था। सिंध की लिपि में **द-नु** का अर्थ **पर्वत [द] का मनुष्य [नु]** है) तथा तांत्रिक पद्धति का **हुँ** [तंत्रों में हुँ फट् स्वाहा मंत्र बहुत आता है] आदि का संबंध है। **सुँ** या **सून्** का प्रयोग पच्छिम में भी था जैसा कि **निन्-सून्** [Nin-Sun अर्थात् सूर्य-देवी] शब्द से स्पष्ट है।

पंचम पक्ष—अंतिम पक्ष मूक-भाषा का है। पाश्चात्य विद्वानों में से कुछ का मत है कि सिंध के लेख **मूक-भाषा** में हैं। मकान आदि के चिह्न घिसकर सिंध के अक्षर बन गए हैं। जो कुछ ज्ञान **चित्र लिपि** के द्वारा हमको प्राप्त है उससे भी लेख का परिष्कार विपरीत नहीं जा सकता। **मूक-भाषा** के अनुसार **चतुष्कोण** तथा **गोल** भूमि का चिह्न तथा गोले के बीच की चढ़खड़ी **डिंगिर** या **डिंगिल** [देवता] को सूचित करती है। बैबिलोनियन आदि देशों में यह प्रथा थी कि सूर्य को सूचित करने के लिये एक गोले के बीच में लकीरें भिन्न भिन्न रूपों से दे दी जाती थीं। [दृष्टांत-स्वरूप देखो **चित्र** जिसमें वृत्त, साँप,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूर्य, चाँद आदि को दिखाया है।] इस प्रकार चतुष्कोण के भीतर का गोला सूर्यलोक के अधिपति सूर्य को सूचित करता है। उसके बाहर का चतुष्कोण तथा उसके अंदर के चार कोने क्रमशः स्वर्गलोक और चारों दिशाओं उप-दिशाओं को सूचित करते हैं। भारतीय पक्ष में चतुष्कोण का उच्चारण सु तथा स्व होता है। **भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम्** में जो स्व है वही सिंध लिपि का चतुष्कोण है। इस दृष्टि से भी परिष्कार तथा उसके अर्थ को पूर्ण रूप से पुष्टि मिलती है। यज्ञवेदि का निर्माण इसी चतुष्कोण के आधार पर प्रतीत होता है।

अंतिम परिणाम—उपरिलिखित पाँच पक्षों में से प्रथम पक्ष का द्वितीय भाग सत्य हो सकता है। जहाँ तक पिछले चार पक्ष हैं उनमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है। सभी इस पक्ष को पुष्ट करते हैं कि भाले के बाद का अंतिम चिह्न सूर्य को सूचित करता है। स्वाभाविक है कि भाले के पूर्व का **मत्स्य** चिह्न मातृशक्ति को सूचित करे। उसका पाठ व्-अ अल् पाश्चात्य दृष्टि से होता है। उससे पूर्व तथा आगे दोनों ही ओर भाला है जिसका पाठ इळ् तथा ळि है। ज्यों ही व्--अ--ल् के आगे ळि लगाते हैं इसका पाठ व्--अ--ल्--ळि होता है। इसका संस्कृत रूप भारती तथा लघुएशिया में प्रचलित रूप बाल्ती [Ba'alti देखो—सैमिटिक माइथालोजी पृष्ठ ३३९-४०; इसका भ्रष्ट रूप Belti पीछे चलकर प्रचलित रहा] है। यह देवी इष्टर का नाम था। इस प्रकार मत्स्य चिह्न आध्यात्मिक अर्थों में मातृ-शक्ति को सूचित करता है। चित्र में पहिला साँप **नागिन** को और दूसरा साँप **नाग** को सूचित करता है। जैनियों में **नागलोक, नागकुमारों** आदि के संबंध में बहुत ही अधिक उल्लेख है। इस संबंध में उनके पुराणों तथा अंग-ग्रंथों से पर्याप्त सहायता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिल सकती है। बीच में भाले पर गोला तथा उसके ऊपर पेड़ आदि जो सिंध की मणि में दिखाया है उस पर चतुर्थ भाग में प्रकाश डाला जायगा।

जहाँ सिंध तथा पंजाब के प्राचीन लोग **सूर्य** को **नाग** के रूप में और **चाँद** को **नागिन** के रूप में पूजते थे वहाँ इन दोनों—शिव तथा शक्ति या सूर्य तथा चंद्र—के योग में ही मुक्ति मानते थे। सिंध देश की निम्नलिखित मुद्रा शिव तथा शक्ति के योग को निम्नलिखित रूप से प्रकट करती है—

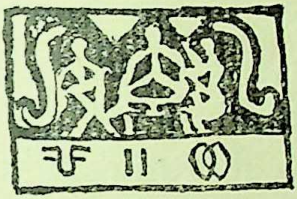

उपरिलिखित मुद्रा में **दो** साँप योगी के दोनों ओर बैठे हैं। एक **सूर्य** को और दूसरा **चंद्र** को सूचित करता है। योगी इन दोनों के साम्य को प्राप्त करता दिखाया गया है[1]।

---

(१) सिंध देश के प्राचीन लोगों के सिद्धांतों को **शैव तथा तांत्रिक** लोगों ने नष्ट होने से बचाया। सूर्य तथा चंद्र के साम्य का नाम ही योग है, इस मत को शैव संप्रदाय ने किस प्रकार बचाए रखा, इसका ज्ञान निम्नलिखित उद्धरण से हो सकता है—

ह कारेण तु सूर्यः स्यात् स कारेणेन्दुरुच्यते।
सूर्याचन्द्रमसो योगाद्हंसत्वपदमाप्यते॥

इसी प्रकार हयग्रीवोपनिषत् में लिखा है कि—

हकारः परमेशः स्यात्तत्पदं चेति निश्चितम्।
स [ल]कारः खेचरी प्रोक्तः त्वं पदं चेति निश्चितम्॥

हयग्रीवोपनिषत्॥ अळ्यार संस्करण, पृ० ३८६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिंध की उपरिलिखित मणि में तीन चिह्न हैं जिनका विश्लेषण या परिशोध निम्नलिखित है—

प्रथम चिह्न—जर्नल आव् रायल एशियाटिक सोसायटी तथा **इंडियन हिस्टारिकल** कार्टर्ली में मैंने प्रथम चिह्न का पाठ **ग-उ** (ओ) [संस्कृत गो] दिया था। उसके बाद जितना भी कार्य इस क्षेत्र में हुआ उससे उपरिलिखित पाठ पुष्ट होता ही चला गया। पिछले लेख में मैंने यह दिखाया था कि संस्कृत गो शब्द का पुराना उच्चारण **गॅ-उ** तथा **उ-गॅ** था। प्रथम उच्चारण से संस्कृत के **गो**, पं गु, शं गु, गव-अक्ष, गभॅ-अस्तिमान् आदि शब्द और दूसरे उच्चारण से **उगॅ-रः**, **भ ग**, **भग वन्**, **भग व**, **भग** आदि शब्द संबद्ध हैं। जहाँ कहीं वेदों में **भग एव भगवान्** आदि शब्द आते हैं उनमें **भग** का तात्पर्य इसी चिह्न से है। **चिह्नविद्या** तथा **चित्र-लिपि** से अनभिज्ञ पंडितों में कुछ एक ने **भग** शब्द को स्त्री-योनि के अर्थ में ले लिया, इससे बड़ा अनर्थ हुआ है। जंबु-द्वीपीय पुराणों के विद्वानों को यह अच्छी तरह से मालूम है कि सैकड़ों सालों तक बैबिलोनिया में उपरिलिखित चिह्न के **मध्य-भाग** पर धर्मशास्त्री विचार करते रहे तथा इसको वह **मर्कसु रावु** अर्थात् **प्रकृति-बंध** के नाम से पुकारते थे।

भारत में पिछले दिनों में इस चिह्न को **त्रिपुंड्र** का नाम दिया गया। ब्राह्मणों के लिये इस चिह्न को माथे पर लगाना बहुत ही श्रेयस्कर लिखा गया। प्रथम चिह्न के **मध्य भाग** को प्रकृति माता तथा विश्वजननी का चिह्न समझना चाहिए। उसको जब प्रथम चिह्न में से निकाल दे तो चार रेखाएँ = =इस रूप में बच जाती हैं। इन्हीं चार रेखाओं का दूसरा रूप : : चार बिंदु हैं। दोनों ही चिह्न एक सदृश अर्थ को सूचित करते हैं। जहाँ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहले का उच्चारण उ (आ) है वहाँ दूसरे का उच्चारण **इन्**, **इम्** [आनुलोम्य में] और **नि** तथा **मी** [प्रातिलोम्य में] है। पुराने कोष के अनुसार पहला चिह्न सम्राट् तथा सम्राज्ञी [His Majesty and Her Majesty] और दूसरा चिह्न स्वामी या स्वामिनी [Lord or Lady] के अर्थ में प्रचलित था। पहले चिह्न में देवत्व भगवन् आदि का भाव और दूसरे में **प्रकाशकत्व** आदि का अर्थ छिपा है। इस प्रकार **शिव** तथा **शक्ति के योग-स्वरूप अश्विन्** को प्रथम चिह्न सूचित करता है।

द्वितीय चिह्न—द्वितीय चिह्न दो रेखाएँ हैं। इसका पुराना उच्चारण इ अ [Ea] या य (yāw) है। यह दोनों ही उच्चारण जंबुद्वीप के पच्छिम भाग में प्रचलित थे। भारत में इसका उच्चारण कुछ स्थानों में य तथा कुछ शब्दों में **ई** मिलता है। धर्म-शास्त्र में यह **देवता** के अर्थ को सूचित करता है। इ अ [Ea] तथा य [yāw] के संबंध में बहुत साहित्य है अतः विशेष रूप से इस पर अंतिम भाग में ही लिखा जायगा।

तृतीय चिह्न—तृतीय चिह्न **एक छोटे से गोले का है जो कि चंद्राकार दो टुकड़ों से जोड़ा गया है। गोला** ब्रह्मांड या स्वर्गीय भूमि को सूचित करता है। सिंध के लोग जब इस लोक की भूमि को सूचित करते थे तो उसके लिये **चतुष्कोण** का प्रयोग करते थे। इस प्रकार चित्र-लिपि के अनुसार तृतीय चिह्न **उस लोक को सूचित करता है जो कि दो पाटों के बीच में है।** वह कौन सा लोक हो सकता है? संस्कृत साहित्य के अनुसार ऐसा लोक **अंतरिक्ष** है क्योंकि वह **अंतराक्षांतं** अर्थात् दो पाटों के बीच में [अंतरा] थमा हुआ [क्षांतं] है। इन दो पाटों का नाम संस्कृत में **रोदसी** है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जंबुद्वीप के सीमांत पच्छिमी प्रदेशों में चंद्राकार टुकड़े का उच्चारण र् तथा ल् था और गोले का उच्चारण उ था जो कि लैटिन भाषा के अक्षरों में o के रूप में अब तक प्रचलित है। 'इंडियन हिस्टारिकल कार्टर्ली' में मैंने तीस से ऊपर देशों की लिपियों की तालिका देकर यह सिद्ध किया था कि अंडाकार तथा गोले का उच्चारण सभी आर्य जातियों में ओ या उ रहा है। भारत के पंच-मार्क्ड सिक्कों में ओम् या ॐ को गोले के बीच में ब्राह्मी के मत्स्याकार म को देकर लिखा गया है। जब दो ल् के बीच में गोला या अंडाकार उ रखा गया है तब इसका उच्चारण ल् ल् उ [ळु] ल्लु, ल्लो (उ) या लु ल् होगा। इस प्रकार ल्ल के आधार पर द्वितीय तथा तृतीय चिह्न का योग इल्लु [Illu] होता है। इलु [Ilu] उच्चारण अक्काद में प्रचलित था। फिनिसियन लोगों में ल् का झुकाव ट् या त् की ओर था [अशोककालीन ब्राह्मी में इसका उच्चारण ट् मिलता है और दक्खिन देश की लिपि में इसका पुराना उच्चारण भी चलता रहा] अतः उनमें इल्-लु का उच्चारण इतलु [Itlu] हो गया। यह पूर्व ही में लिखा जा चुका है कि सुमेर-अक्काद में एमेसाल [Eme-Sal] के अंदर ळ् तथा ल्-ळ ह में बदल दिया जाता था और ईरान् ह क्षेत्र में तथा भारत के कुछ भाग स क्षेत्र में हैं। ज्योंही ळ् या ल् को ह् में परिवर्त्तित किया जाय उस दशा में पाठ इ^{अ}-ह्-ह्-उ^{ओ} या इ^{अ}-ह्-उ^{ओ}-ह् अर्थात् य हो वह् [यहूदियों का Yehowah] हो जाता है। भारत की दृष्टि से ह् को स् में परिवर्त्तित करते ही इ^{अ}-स् स्--उ^{ओ} [जर्भरी तुर्फरी मंत्रों के यशो न पक्वं में यशो। यशो न पक्वं वस्तुतः संस्कृत के ईशः नः भगवन् का रूपांतर है। संस्कृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में कृष्णजी की माता का नाम **यशोदा** दिया है। यदि यह प्राचीन नाम है तो इसका पूर्व रूप **यशो-धा** अर्थात् भगवान् के धारण या पालन-पोषण करनेवाली हो सकता है। संस्कृत का **ईश्वर** भी सिंध के ईस्रव से संबद्ध प्रतीत होता है। दोनों शब्दों में अंतर यही है कि एक में स्वर्ग-लोक को **स्वर्** तथा दूसरे में **स्व** शब्द से सूचित किया है। वेदों में तो—**भूर्भुवः स्वः**—**स्व** शब्द का प्रयोग है।] संस्कृत के **ईश्वर्** तथा **यशो** शब्दों का **प्राकृत रूप** प्रतीत होता है।

उपरिलिखित विश्लेषण से यह सिद्ध है कि तृतीय चिह्न **अंतरिक्ष** को सूचित करता है। बहुधा **चिह्न** एक देश से दूसरे देश में जाते हैं और समय समय में उनके पाठ भी भाषाओं के परिवर्त्तन तथा दूसरी जातियों के आगमन से भिन्न हो जाते हैं। भिन्न भिन्न शब्दों को सूचित करनेवाले चिह्न अक्षर के रूप में भी चुन लिए जाते हैं। इस दशा में परिष्कार का काम करते समय इन सब बातों का ध्यान रखना पड़ता है।

मिस्र देश में दो चंद्राकार पाटों को मिलाकर मुखाकार जो चिह्न बना उसका उच्चारण **र** या **अर्** था। एशिया माइनर की कुछ जातियों में यह **ल्ल्** या ळ् तथा कुछ जातियों में **ह** या **अह्** कुछ में स, अस् तथा श्, अश् प्रचलित था। **हित्** देश में इसका उच्चारण **क्स्** या **ष** या **क्ष** प्रतीत होता है।

परिष्कार के कार्य में कितनी कठिनाइयाँ है इसका ज्ञान निम्नलिखित तालिका से हो सकता है जिसमें तीन अक्षरों के योगस्वरूप तृतीय चिह्न के बहुत से योगों में से बारह योगों को चिह्न के भिन्न भिन्न उच्चारणों के आधार पर दिया गया है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

	१		२		३
१	ल्—उ—ल्	५	ल्—ल्—उ	९	उ—ल्—ल्
२	त्—उ—र्	६	त्—ल्—उ	१०	उ—ड्—ड्
३	ह्—उ—ग्	७	ह्—ह्—उ	११	उ—ह्—ह्
४	स्—उ—र	८	स्—स्—उ	१२	उ—स्—स्

उपरिलिखित तालिका में केवल **बारह** योग दिए हैं। और भी अधिक योग संभव है। जहाँ तक **बारह योगों** का संबंध है उनका कहाँ कहाँ संस्कृत शब्दों में प्रयोग है इसका ज्ञान नीचे लिखे विश्लेषण से हो सकता है—

१—ल्-उ-ल् सिंध का **लुल्** संस्कृत के रोदसी में **रोद्** का रूप धारण करता है। लक्ष्मी तथा प्रकाश के द्योतक लोलू-अ अ=**लोला** में **लोल्** के रूप में आता है। रौर्-अव (अव अर्थ को विपरीत कर देता है। रौर् अर्थात् स्वर्ग से विपरीत **नरक**) में **रौर्** के रूप में प्रकट होता है।

२—त्-उ-र् तुर् से संबद्ध वैदिक **तुर्-वसु** तथा **तुर्य** शब्द हैं। लैटिन का तुरुस (Taurus) सिंध के **तुर्** से संबद्ध प्रतीत होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३—ह्-उ-र् हुर् शब्द ईरान् के **अहुर्** आदि शब्दों के अंदर पाया जाता है।

४—स्-उ-र् संस्कृत के **सुर** तथा **स्वर्** आदि शब्द इसके उदाहरण हैं।

५—ल्-ल्-उ संस्कृत के **लोक**, अकेडियन के इ-ल्लु आदि शब्दों में इसका प्रयोग है।

६—त्-ल-उ फोनीशियन लोग **इल्लु** का इ-त्लु [Itlu] उच्चारण करते थे।

७—ह्-ह्-उ यहूदियों का य**होवा** (Yehowah) में तथा ईरानी भाषा के कई शब्दों में यह पाया जाता है।

८—स्-स्-उ संस्कृत का **स्व** (स्वर्ग अर्थ में जैसा कि भूर्भुव **स्वः** में) तथा **सू** (सूर्य अर्थवाले **सूनु** में) इससे संबद्ध हैं।

९—उ-ल्-ल् सुमेरियन के **उर्** तथा संस्कृत के **उ र् उ**, उर्वरा [स्वर्गीय भूमि], **उलूक** [इंद्र का नाम], **उल्का** [टूटता हुआ तारा, प्रकाश], उल्कुषी, उरण [इंद्र द्वारा मारा गया देव], उरणाक [बादल] अनेक शब्दों में इसका प्रयोग है।

१०—उ-ड्-ड् शिववाची **उडुीश**, चंद्र-ग्रहण तथा नक्षत्र-वाची **उडु**, **उडूप** आदि शब्दों में आता है।

११—उ-ह्-ह् संस्कृत में इसका उच्चारण **व ह् ह्** या **वह्** हो गया। **वह्नि** का वह् इसी से संबद्ध प्रतीत होता है [**नि** के लिये देखो तांत्रिक ग्रंथों में—निःशब्दोऽयं महाज्योतिः निर्विकारो निरंजनः]।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१२—उ-स्-स् संस्कृत में इसका उच्चारण **वसूस्** या **वस्** हो गया। नक्षत्र अर्थ-संबंधी **वसु** इसका उदाहरण है।

इन बारह योगों के सदृश वर्त (आर्या-वर्त्त में) तथा वर्ष (भारत-वर्ष में) आदि शब्द भी अन्य योगों के द्वारा इसी चिह्न से संबद्ध प्रतीत होते हैं। प्राचीन आर्य लोग अपने को देव, सुर आदि नाम से पुकारते थे तथा अपनी भूमि को स्वर्गीय भूमि से किसी भी दर्जे में कम न समझते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत से शब्द जो कि स्वर्ग तथा स्वर्गीय देवताओं के साथ संबद्ध थे इस लोक की वस्तुओं तथा मनुष्यों को भी सूचित करने लगे।

सिंध की लिपि आर्य जाति के लोगों में **मिस्र से भारत तक** प्रचलित थी। अतः यह आवश्यक है कि प्रत्येक चिह्न के भिन्न भिन्न पाठों को सदा ध्यान में रखा जाय। चूँकि भारतवर्ष के कुछ भाग **स** क्षेत्र में हैं अतः सिंध के तीसरे चिह्न का पाठ संस्कृत की दृष्टि से **स्व** ठीक होगा। द्वितीय तथा तृतीय चिह्न का योग **ईस्व** होगा। सिंध के लोग इनके **इल्लु, इत्लु, यहोवा** (Yehowah), **अहुर, असुर, यस्सू, यस्सो, यशो, ई-स्वर्** या **ईश्वर्, य-सूर्**=सूर्य, **य-तूर्**=तूर्य **यहु यदु**, आदि पाठों में से किसको ठीक मानते थे, इस पर चतुर्थ भाग में ही प्रकाश डाला जायगा।

जहाँ तक मणि के लेख के अर्थ का प्रश्न है उसमें कुछ भी विशेष कठिनाई नहीं है। पहले चिह्न का अर्थ **भगवान्** है। दूसरे तथा तीसरे चिह्न का अर्थ **अंतरिक्षाधिपति** है। इस प्रकार योगाभ्यास में मग्न पुरुष भगवान् शिव के सिवा और कौन हो सकता है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिंध की निम्नलिखित मणियाँ भी उत्पत्ति की गाथा से संबद्ध हैं—

(१)

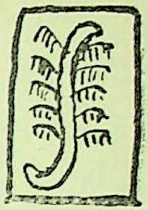

(२)

इनमें से पहली मणि में बीच में **अधिष्ठातृ** देव को तथा अंत में **साँप, पेड़, शक्ति** तथा **शिव** के योग को दिखाया है[1]।

---

(१) **श्वेताश्वतरोपनिषत्** का निम्नलिखित श्लोक भी उपरिलिखित मणि के सदृश भावों से परिपूर्ण है।

स वृक्ष काला कृतिभिः परोऽन्यो यस्मात् प्रपंचः परिवर्ततेऽयम्।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वाऽऽत्मस्थममृतं विश्वधाम ॥ ६ ॥

इस पर **श्री उपनिषद् ब्रह्मयोगी** की टीका निम्न रूप से है—

परमेश्वरस्य सर्वाधिष्ठातृत्वं स्वाप्त्युपायप्रापकत्वं स्व याथात्म्यज्ञानान्मोक्ष-सिद्धिं चाह—स इति। **स वृक्ष काला कृतिभिः** इति पंचम्यर्थे तृतीया, सोऽयमीश्वरः, वृक्षशब्देन संसार उच्यते, तत्रानुस्यूतं कालतत्त्वं काल उच्यते, तस्मादासमन्तात् कृतिराकृतिः महदादिकार्यरूपेण कृतिः प्रकृतिः स्वाधिष्ठातृ-सहिता चेदाकृतिः मूलप्रकृतिरुच्यते, तस्याश्च **परोऽन्यः** तेभ्यः परः विलक्षणः स्वयमुत्कृष्टश्चेति वाऽर्थः। [अळ्यार संस्करण, पृ० २२४-२२५]

उपरिलिखित टीका के अनुसार भगवान् **वृक्ष, काल** तथा **प्रकृति** इन तीन से भिन्न है। वैदिक उत्पत्ति की गाथा के अनुसार तो **श्वेताश्वतरोपनिषत्** का **काल** वही है जो कि **साँप** के नाम से बाइबल में पुण्यदेव (Holy Ghost) का रूप लेता है। बैबिलोनियन इष्टिका के अनुसार **कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च** और कोई नहीं है सिवा **सूर्य भगवान्** के। उन्हीं का रूप त्रिनेत्रधारी शिवजी हैं। सिंध की मणि में अधिष्ठातृ देव **श्वेताश्वतर** सूर्य स्थानापन्न **शिव** को सूचित करता है। उसके **साक्षि** स्वरूप को **पेड़, साँप** तथा **प्रकृति** [वृक्ष कालाकृति] की ओर उसका मुख रखकर प्रकट किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देश के रक्षक तथा उत्पत्ति के आधारभूत शिव तथा शक्ति हैं इसको पहले चिह्न से प्रकट किया है। जहाँ तक इस मणि के परिष्कार का प्रश्न है उससे तो यही प्रतीत होता है कि इसका स्वामी **हिन्द्** देश का था और उसका संबंध **तिर्गण** या **तिरिगण** से था। दूसरी मणि में **सर्प** तथा **वृक्ष** के **द्वित्व** [=अश्विन्] को प्रकट किया है। सिंध की बहुत सी मणियों का उद्देश्य घर-बार को भूत-प्रेत, शाकिनी, डाकिनी आदि से बचाना प्रतीत होता है।

सिंध की एक और मणि है जिसमें उत्पत्ति के साढ़े तीन तत्त्व निम्नलिखित रूप से दिखाए हैं—

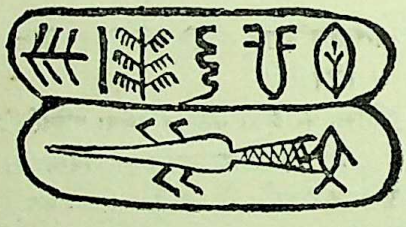

मणि में सात रेखाओं के योग से बना पहला चिह्न **सर्य** को, रोमन-अक्षर **ई** स्वरूप एक रेखा **शक्ति** को, तीसरा तथा चौथा चिह्न **पेड़** तथा **साँप** को सूचित करता है।

उत्पत्ति की उपरिलिखित गाथा भारत में किसी न किसी रूप से प्रचलित रही। प्राचीन **पंच-मार्क्ड** नामक सिक्कों पर साँप, पेड़, घड़ियाल के मुख में मच्छी आदि चिह्न सिंध की मणियों के सदृश बने मिलेंगे। विचार-क्षेत्र में भी गाथा के तीन मुख्य तत्त्व तथा कुल साढ़े तीन तत्त्व किसी न किसी रूप में चलते रहे और नष्ट नहीं हुए।

पौराणिक-संप्रदाय में तीन तथा साढ़े तीन तत्त्वों के आधार पर अन्य गाथाओं का भी विकास हुआ सूर्य-रूपी शिवजी का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चरित्र सदा ही पवित्र माना गया। उनको योगि-राट् की उपाधि दी गई। उनकी अर्धांगिनी चंद्र-रूपिणी भगवती पार्वती का चरित्र भी ज्यों का त्यों रखा गया। सर्प ने मातृशक्ति को अपने कहने पर चलाया और शिव-शक्ति पर भी अपना प्रभाव न डाला। प्रेम-रूपी सर्प का स्थान कामदेव या मन्मथ को मिला। साँप के सदृश ही उसका निवास पेड़ों पर रखा गया। यद्यपि भगवती ने भी शिवजी की तरह तपस्या की। परंतु दोनों की तपस्या में भेद था। मातृ-शक्ति की तपस्या में शिवजी की प्राप्ति ही मुख्य ध्येय था। परंतु शिवजी की तपस्या में ऐसी कोई बात न थी। कामदेव ने पार्वतीजी के साथ उनको मिलाने के लिये जो यत्न किया उसका परिणाम जो हुआ उसको कालिदास ने बड़ी अच्छी तरह इस श्लोक के द्वारा दिखाया है।

क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरंति।
तावत्स वह्निः भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार॥

अर्थात् **हे प्रभो क्रोध को दूर करो, रोको**—ऐसी आवाजें आकाश के देवता लोग अभी कर ही रहे थे कि इतने में उत्पत्ति के आधारभूत भगवान् शिवजी की आँखों से निकली आग ने काम-देव को भस्मीभूत कर दिया।

उत्पत्ति की गाथा के मुख्य तत्त्वों के आधार पर शैव संप्रदाय के भिन्न भिन्न जाति के लोगों ने शिवजी की मूर्त्ति के बनाने में कोई बात उठा न रखी। सूर्य के प्रतिनिधि होने से उनके माथे में अग्निरूप तृतीय नेत्र की कल्पना की। मिस्र देश में **नेत्र** का चिह्न सम्राट् के अर्थ को सूचित करता था। इससे इस कल्पना का और भी अधिक महत्त्व बढ़ गया। उत्पत्ति की गाथा में सूर्य की अर्धांगिनी भगवती **चंद्र-देवी** थी अतः उसको सूर्य-रूपी नेत्र के ऐन ऊपर माथे पर बैठा दिया। नाग जाति के **वार** या-**वर** लोगों ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी जाति के इष्टदेव तथा देवी को भी स्थान दिया। गले में साँप तथा जटाजूट में गंगाजी को सुशोभित किया। पार्वत्य दानव लोगों ने उनको पर्वत का देवता बनाया। आदम वल्कल-धारी थे अत: उनको लँगोटी तथा मृगछाला मिली। सूर्य-देवता का चिह्न सिंह था अत: उनको ओढ़ने के लिये बाघंबर दिया गया। हव्वा नग्न थी अत: शिवजी की अर्धांगिनी शक्ति को गहनों से सजा-कर नग्न रखा गया। भारत के जितने भी अजायबघर हैं उनमें मातृशक्ति की मूर्त्ति प्राय: नग्न मिलेगी।

पौराणिक संप्रदाय के सदृश ही दार्शनिक संप्रदाय भी उत्पत्ति के तीन तत्त्वों के प्रभाव से बचा न रहा। पुरानी प्रथा के अनुसार **शिव, शक्ति जीवन्मुक्ति आधारभूत सर्प** इन तीनों ने **पर-मात्मा, प्रकृति** तथा **पुरुष** का रूप धारण किया। जंबूद्वीप के पश्चिम भू-भागों की कुछ जातियों में चंद्र स्त्रीलिंग न था। वे प्रारंभ से ही उसको पुँल्लिग मानते थे। **सूर्य, चंद्र** तथा **सर्प** इन तीनों पुरुषवाची शब्दों के आधार पर त्रित्व से संसार की उत्पत्ति मानी गई। उनमें से एक को पिता (Father), दूसरे को **पुत्र** (Son) और तीसरे को पवित्र-देव (Holy Ghost) का नाम दिया गया। भारतीय दर्शन-शास्त्र में **शिव** के गुण **सत्त्व, प्रकृति** के गुण **रजस्** तथा **सर्प** के गुण **तमस्** के आधार पर **सत्त्व, रजस्, तमस्** रूपी त्रित्व ने जन्म लिया। जीवन आधारभूत **वृक्ष** को सम्मिलित करनेवालों ने **आधा तत्त्व** और जोड़कर **ओम् में साढ़े तीन** मात्राओं को मानकर उत्पत्ति की गाथा का निचोड़ निकाल लिया और यज्ञोपवीत में साढ़े तीन गाँठों को देकर अपनी उत्पत्ति को **सनातन** प्रकट किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तृतीय परिच्छेद

उषस् रूपी शिव तथा शक्ति

द्वितीय परिच्छेद में दिये हुए विश्लेषण से यह तो स्पष्ट है कि बाइबल की **उत्पत्ति-गाथा** का स्रोत किसी प्राचीन गाथा में है। इसमें भी संदेह नहीं है कि वैदिक ऋषि भूतांशु को तत्सदृश किसी गाथा का ज्ञान था जिससे प्रेरित होकर उन्होंने **जर्भरी तुर्फरी** सूक्त का पहला मंत्र लिखा। सिंध के नाग-पूजक **वार, किन्नर, यक्ष, कुबेर, दानव, तिरि** आदि जाति के लोग भी इससे अनभिज्ञ न थे। उपनिषदों के समय तक यह गाथा किसी न किसी रूप में भारत में प्रचलित रही।

जर्भरी तुर्फरी सूक्त के दूसरे मंत्र का पहला भाग **उष्टारेव फर्वरेषु अश्येये** भी पहले मंत्र के सदृश ही महत्त्वपूर्ण है। **उष्टारा** तथा **फर्वर** दोनों ही शब्द जंबुद्वीप के भारत-खंड में नहीं प्रचलित थे, ऐसा कहना कुछ कुछ कठिन प्रतीत होता है। इसमें संदेह भी नहीं है कि **सायण** ने ईसा से चार सौ पाँच सौ साल पुराने व्याकरण के सहारे इनके अर्थों का अनर्थ किया[1]। यदि अश्विन् **शिव** तथा **शक्ति** के योग

---

(१) सायण ने **उष्टारेव** का अर्थ—उष्टारेव उष्टः कामयेते गन्तव्य देशमिति उष्टारौ प्रासंगस्य वोढारावनड्वाहाविव वशकान्ताविव्यस्मात् तृचि छान्दसं संप्रसारणं इडभावश्च तौ यथा संपूर्णघासेषु चरतः तद्वत्—किया है। इस प्रकार उनके अनुसार **उष्टारेव** का अर्थ घास चरते हुए **ऊँटों या भार उठानेवाले पशुओं की तरह** है। यदि सायण **उष्टारेव** का **उष्-तारा-इव** विभाग करते तो उनको अश्विन् अर्थात् संसार के उत्पादक शिव तथा शक्ति को घास चरते हुए भार उठानेवाले पशुओं से उपमा देने की आवश्यकता न पड़ती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का नाम है, तब तो सायण का दिया हुआ **उष्टारेव** का **घास चरते हुए भार उठानेवाले पशुओं की तरह** अर्थ उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। क्योंकि दोनों ही शब्द अर्थात् **उष्टारौ** तथा **फर्वर** संस्कृत कोषों में नहीं मिलते अतः इनके अर्थ का पता लगाने के लिये सावधानी की आवश्यकता है।

यदि **उष्टारा** पर गंभीर रूप से विचार किया जाय तो **अश्विन्** के दो रूप **उष्** शब्द में छिपे हुए मिलेंगे। **उष्-टारा** वस्तुतः **उष्** तथा **तारा** इन दो शब्दों का योग है। भूतांशु का **उष्टारा** से तात्पर्य **उष्** नामक दो तारों से प्रतीत होता है। आप्टे के अनुसार **उष्-अस्** प्रातः तथा सायंकालीन प्रकाशों की अधिष्ठातृ देवताओं को सूचित करता है[1]। ये दोनों उष्-अस् नामक देवता बैबिलोनियन प्रदेशों में (उ ष्-स् अ = उष् स) **उज्जा** या उत्सा या उत्शा (uzzā) नाम से पुकारे जाते थे। ये युद्ध के देवता तथा भाग्य के विधाता के रूप में पुजते थे।

उष्-टारेव के बाद मंत्र में **फर्वर** शब्द है। नीचे दिए विश्लेषण के अनुसार ऋग्वेद का **फर्** शब्द तांत्रिक **फट्**, संस्कृत तथा ईरानी **फल्** और संस्कृत के **भर्** और प्राचीन भाषा के **बद्** तथा मोहेन्जोदारो तथा हरप्पा के **बर्** तथा **भर्** से संबद्ध प्रतीत होता है। इसका अर्थ **आकाश** है।

---

(१) आप्टे **उषस्** के निम्नलिखित अर्थ देते हैं—

"**उषस्** f. 1. Dawn, morning. 2. Morning light. 3. The deity that presides over the morning and evening twilights (used in dual)."

[देखो आप्टे में **उषस्**]

आप्टे ने उषसः का अर्थ सूर्य तथा अग्नि दिया है। यह द्वित्व भी विचारणीय है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाँच हजार वर्ष पुराने ऊँचे, ऊपर या दूर से दूर अर्थवाले बद् (Bad) से जंबुद्वीपीय आर्य-भाषाओं के शब्दों का विकास--

बद् = फट्	तांत्रिक ग्रंथों में **फट्** शब्द प्रायः **ओं ह्रीं क्लीं फट् स्वाहा** आदि के रूप में आता है। संस्कृत ग्रंथों में इसके अर्थों पर पूर्ण रूप से प्रकाश नहीं डाला गया है। यदि यह शब्द प्राचीन **बद्** का लौकिक उच्चारण है तो इसका अर्थ ऊँचे, ऊपर या दूर से दूर अर्थात् **आकाश** होगा।
बद् = फर्	यह शब्द **जभंरी तुर्फरी** मंत्र के **फर्-वरेषु** में आता है। योरोपीय देशों की भाषाओं के **फार** अवे (far away), **फर्**मामंट (Fermament) आदि शब्दों में भी इसका प्रयोग है। यह **दूर से दूर, आकाश** आदि अर्थ को उनमें सूचित करता है।
बद् = फल्	फर् शब्द का **रलयो डलयोरभेदः** के अनुसार **फल्** रूप संस्कृत के **फल्-गुन, फाल्-गुन, फाल्-गुनी, फालः** तथा **फालम्** (शिवजी के अर्थ में) आदि शब्दों में प्रचलित है। उर्दू के **फल्-अक** (فلک) शब्द का **फल्** संस्कृत के **फल्**, तंत्रों के **फट्** तथा ऋग्वेद के **फर्** शब्द से संबद्ध है। फलक का अर्थ आस्मान है।
बद् = भर्	**बद्** का उच्चारण **भर्** संस्कृत के **शिव**-अर्थवाची **भर्-गः, भर्-ग्यः** में, **शिव** तथा **विष्णु** को सूचित करनेवाले **भर्-उः** में, **सूर्य, चंद्र, अग्नि** अर्थ को प्रकट करनेवाले **भर्-अण्युः** में तथा **नक्षत्रराशि**-वाची **भर्-अणी** में मिलता है। इस विश्लेषण के अनुसार गायत्री मंत्र के **भर्-गो** का अर्थ **स्वर्ग की दूर से दूरवर्त्ती ऊपर स्थित भूमि** होगा।
बद् = पर्पर	**पर** तथा (**पर्-वत** में) दोनों का ही संस्कृत में प्रयोग मिलता है।

फर्वर के **फर्** के सदृश ही **वर** शब्द का विकास प्राचीन **उर्** (**उद्**) शब्द में है। इसका अर्थ ऊँचा स्थान था। इससे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी जंबूद्वीप के अनेक शब्दों का उद्भव है [देखो, द्वितीय भाग उर् (उद्)]। इस प्रकार **जर्भरी तुर्फरी** मंत्र के **फर्वर** का अर्थ **ऊँचा स्थान** या **ऊपर का स्थान** अर्थात् **आकाश-रूपी स्थान** हुआ[1]।

यदि उपरिलिखित विश्लेषण ठीक है तो **उष्-टारेव फर्वरेषु अर्यये** का **शिव तथा शक्ति उष् नामक तारों के सदृश दूर से दूर स्थित आकाश में रहते** थे ऐसा अर्थ होगा। प्रश्न उठ सकता है कि ये कौन से तारे थे जिनको **उषस्** के नाम से पूजा जाता था। ऋग्वेद में **उषस्** के संबंध में बहुत से मंत्र हैं इसलिये इस प्रश्न का महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है।

प्रोफेसर लैंग्डन के अनुसार उज़्ज़ा (uzzā, ऋग्वेद का उषस्) शुक्र-रूपी तारे के दो भेद हैं। बैबिलोनिया में प्रातःकाल का तारा **पुरुष** और संध्या का तारा **स्त्री** माना गया है। दोनों ही भगवती **इष्टर** के साथ संबद्ध हैं[2]। ऋग्वेद के **उष्-टारा** या **उष्-तारा**

---

(१) यदि **फर् वर** से संस्कृत का **पर् वत** शब्द संबद्ध हो तो इस दशा में इसका प्रारंभिक अर्थ **पर** या **पंखवाला** न होकर **दूर से दूर की ऊँची तथा ऊपर जानेवाली भूमि** होगा।

(२) प्रोफेसर लैंग्डन शुक्र-रूपी अश्विन् के संबंध में इस प्रकार लिखते हैं—

The Arabian Allat, Ruṣā, Arṣā, became a goddess of Fortune by assimilation to the Babylonion Ishtar, identified with Venus, the Sumerian Ninsianna, and Hesperus, and various titles of the Arabian Allat, such as Sa'd and Uzzā, have dual forms, Sa 'dān, 'Uzzā, 'the two planets Venus.' In Babylonia the morning star is called the "male Venus", and the evening star the "female Venus" But in Goth aspects Ishtar is always a goddess in Babylonian mythology.

(Semitic Mythology, p. 24)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नामक अश्विन् की पूजा किस प्रकार होती थी इसका ज्ञान नीचे दी हुई **बैबिलोनियन इष्टिका** से हो सकता है।

उपरिलिखित चित्र में **सिंह** पर सवार **शुक्र** प्रातःकाल के अधिष्ठातृ देव के रूप में खड़े हैं। उनके सम्मुख उषा देवी खड़ी हैं। **दो पशु** जोड़ी के रूप में खड़े दिखाए हैं। **शुक्र** देव शस्त्रास्त्र के साथ सजे हुए सिंह पर खड़े हैं।

ऋग्वेद के शुक्र-विषयक मंत्रों का उपरिलिखित चित्र से कुछ न कुछ संबंध अवश्य ही है; क्योंकि इन मंत्रों में **अनड्वाहौ** (दो भार लादनेवाले पशुओं), **सिंहं** आदि शब्द आते हैं जैसा कि नीचे लिखे उद्धरणों से स्पष्ट है। उषा देवी का नाम **सूर्या** प्रतीत होता है।

मनो अस्या अन आसी द्यौरासीदुत छदिः।
शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात्सूर्या गृहम्॥ [ऋग्वेद-१०.८५.१०]

द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे अन्यान्यावत्समुपधापयेते।
हरिरन्यस्यां भवति स्वधावान्शुक्रो अन्यस्यां ददृशे सुवर्चाः॥
[ऋग्वेद-१. ९५. १]

उभे त्वष्टुर्विभ्यतुर्जायमानात्प्रतीची **सिंहं** प्रतिजोषयेते॥
[ऋ०-१,९५.५]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः । स्तुषे वामश्विना बृहत् ॥१३॥
युवोरुषा अनु श्रियं परिज्मनोरुपाचरत् । ऋता वनथो अक्तुभिः ॥१४॥
उभा पिबतमश्विनोभा नः शर्म यच्छतम् । अविद्रियाभिरूतिभिः॥१५॥
[ऋग्वेद–मं० १, ४६. मंत्र १, १४, १५]

यदि उपरिलिखित मंत्रों पर गंभीर रूप से विचार करें तो प्रतीत होगा कि **वैदिक ऋषि** बैबिलोनिया की गाथाओं तथा पूजा-पाठ की पद्धतियों से अनभिज्ञ न थे। बैबिलोनियन इष्टिका की पशुओं की जोड़ी वैदिक मंत्र—**शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात् सूर्या गृहम्**—के अनुसार सूर्या की गाड़ी के हैं जिस पर चढ़कर वह घर जाती थी। बैबिलोनियन इष्टिका में **शुक्र** देव के सिंह का मुख पच्छिम की ओर है और वह पूर्व की ओर ताक रहा है। यह क्यों? **वैदिक ऋषि** का उत्तर है कि **उभे त्वष्टुर्विभ्यतुर्जायमानात्प्रतीची सिंहं प्रति जोषयेते** अर्थात् यह बात इसलिये है कि अहोरात्र के दोनों ही हरि तथा शुक्र नाम के लड़के **त्वष्टा** से डरकर सिंह को पच्छिम की ओर **चुप्पे से ले जाते हैं**। (जोषयेते का अर्थ विचारणीय है। योष, जोष, योग आदि संस्कृत के शब्द हैं, इनका पुरानी किस **धातु** से संबंध है, जब तक यह न मालूम पड़े तब तक कुछ भी कहना कठिन है)।

उषा-तारा गाथा के संबंध में ऋषि का कथन है कि अहो-रात्र-रूपी भिन्न भिन्न रंगवाली देवियाँ अपने अपने कार्य से आया जाया करती हैं [द्वे विरूपे चरतः स्वर्थे], और दोनों ही एक दूसरे के बच्चे का पालन-पोषण करती हैं (अन्यान्यावत्समुपधापयेते)। उनमें से एक लड़के का नाम **हरि** और दूसरे का नाम **शुक्र** है। एक को प्रातःसायं **हवि** दी जाती है [भवति स्वधावान्] और दूसरा दीप्तिमान् है [ददृशे सुवर्चाः]।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उषस् संबंधी मंत्रों का यदि उत्तम रूप से मनन किया जाय तो बहुत संभव है कि दोनों समय के हवन तथा संध्या पर कुछ नया प्रकाश पड़े। इसी के साथ शुक्र तारे के डूबने पर शादी-ब्याह, बिदाई के काम आदि जो रोक दिए जाते हैं उसका रहस्य भी खुल जाय।

चतुर्थ परिच्छेद

सुमेरियन पुराण का दसवाँ मनुज सूत्र या श्वात्-या

पहले मंत्र तथा दूसरे मंत्र के चतुर्थ भाग—**उभा उ नूनं तदिदर्ययेथे वितन्वाये धियो वस्त्रापसेव। सध्रीचीना यातवे प्रेसजीगः सुदिनेव पृक्ष आ तंसयेथे ॥१॥ उष्टारेव फर्वरेषु अयेथे**—के बाद ऋषि भूतांशु भिन्न भिन्न देवी-देवताओं का आह्वान करता है। ऐसा करने में मुख्य कारण यह है कि **सृण्येव जर्भरी तुर्फरी** मंत्र तांत्रिक-प्रथा से संबद्ध है। भूत, प्रेत तथा पिशाच गृहस्थों को न सतावें, बीमारों को कष्ट न दें और गर्भस्थ तथा दुर्बल बालकों का नाश न करें यही इस मंत्र का उद्देश्य है। प्राचीन काल में यह विश्वास था, जो अब तक हिंदुओं में पूर्ववत् विद्यमान है, कि बुरे भले सभी देवी-देवताओं का आह्वान किया जाय। बैबिलोनिया, लघुएशिया आदि देशों के लोग भूत-प्रेत, शाकिनी-डाकिनी आदि से बचने के लिये उनका पूजा-पाठ तथा जंत्र-मंत्र करते थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्पत्ति के मुख्य तत्त्व शिव, शक्ति तथा जीवन्मुक्ति साधक सर्प का और भाग्य के विधाता तथा सफलता के मुख्य देवता उषू नामक शुक्र तथा उषा रूपी अश्विन् का स्मरण कर ऋषि भूतांशु संसार के रक्षक, जल-प्लावन रूपी विपत्ति में सृष्टि के आधारभूत तथा ब्रह्म-सूत्र के प्रवर्त्तक दसवें **मनु जु-शूञ** या ऋग्वैदिक श्वात्र्-या या या-श्वात्र् (yāw shvātr) का **प्रायोगेव श्वात्र्या शासुरेथ** के द्वारा स्मरण करता है।

ऋग्वेद के उपरिलिखित वाक्य—अर्थात् प्रायोगेव श्वात्र्या शासुरेथ—के **श्वात्र्या** का अर्थ सायण ने **शीघ्र** किया है। चूँकि यह शब्द आप्टे ने अपने कोष में नहीं दिया है अतः इसके अर्थ के करने में सावधानी की आवश्यकता है। यदि इसका अर्थ **शीघ्र** भी हो तो भी कोई कारण नहीं कि यह किसी का नाम क्यों न हो ? **वायु** का अर्थ तेजी से बहनेवाला होते हुए भी यह शब्द किसी एक देवता का नाम हो सकता है। प्रश्न हो सकता है कि यदि **श्वात्र्या** नाम है तो किसका ?

पिछले परिच्छेदों से यह तो स्पष्ट ही है कि **जर्भरी तुर्फरी** मंत्र बैबिलोनियन पुराणों की गाथाओं से घनिष्ठ रूप से संबद्ध है। स्वाभाविक है कि उन्हीं पुराणों की गाथाओं में इस संबद्ध में भी अन्वेषण किया जाय। सैमिटिक भाषा में **या** अथवा यॅा (yāw) शब्द देव या देवता के अर्थ में आता है। इस आधार पर **श्वात्र्-या** अर्थात् श्वात्र्-देव **या-श्वात्र्** अर्थात् देव श्वात्र् का पर्यायवाचक हो गया। बैबिलोनियन भाषा में देव के लिये दूसरा शब्द **जु** (Zeu) है। अतः **या-श्वात्र्** का दूसरा रूप **जु-श्वात्र्** हो गया। चूँकि सुमेरियन भाषा में **व** का उच्चारण **उ** भी प्रचलित था अतः जु-श्वात्र् का सुमेरियन रूप **जु-शूत्र्** हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुमेरियन **जु-सूद्र** (Ziū sudra), ग्रीक् जिसूथ्रोस् (Xisuthros), हिब्रू नोः (Noah) तथा ऋग्वैदिक **या-श्वाच्** अथवा **श्वाच्-या** एक ही देवता को सूचित करते प्रतीत होते हैं। भारतीय पुराणों में दसवाँ मनु **वेदों के उद्धार** के साथ संबद्ध है। यही बात सुमेरियन पुराणों के दसवें मनु के साथ है। प्रोफेसर लैंग्डन ने अपने ग्रंथ **सैमिटिक माइथोलोजी** में **जु-सूद्र** या ऋग्वेदीय **श्वाच्-या** के संबंध में जो कुछ दिया है उसका संक्षेप नीचे दिया जाता है —

बेरोस्सुस ने अपनी जल-प्लावन की गाथा में इस प्रथा को सुरक्षित रखा है कि क्रोनस ने **जिसूथ्रुस्** अर्थात् **ज्यु सूद्र** नामक सुमेरियन लोगों के अंतिम मनु को जल-प्लावन की चेतावनी दी तथा आज्ञा दी कि वह प्रारम्भ से अंत तक इतिहास लिखे तथा उसको शिप्पर् या ऋग्वैदिक **शिप्रा** नामक सूर्य देवता के नगर में सुरक्षित रूप से रख दे।

ज्यु सूद्र ने आज्ञा को माना तथा अपने पवित्र जीवन के कारण स्त्री, पुत्री तथा कर्णधार के साथ अमर हो गया। जल-प्लावन से जिन लोगों को उसने बचाया उनको उसने आकाश-वाणी के द्वारा बताया कि वह लोग बैबिलोनिया में जायँ तथा शिप्पर् में वेदों को ढूँढ़ें। ऐसा ही उन्होंने किया। असीरियंज तथा बैबिलोनियंज का यह विश्वास था कि सदाचार, पूजा-पाठ के मंत्रों के भंडार वेदों का इस प्रकार उद्धार हुआ। यह ग्रंथ जल-प्लावन से पहले रहनेवाले ऋषियों तथा महर्षियों से संबद्ध हैं[1]।

---

(१) "Berossus preserved this tradition in his account of the flood. Xisuthrus, as he rendered the name Ziusudra, last of the Sumerian antediluvian kings, warned of the flood by Cronus, was ordered to write down all history from the beginning to the end, and to deposit the tablets at Sippar, city of the Sun-god. After his escape in a boat, Xisuthrus, when the waters had

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपरिलिखित विवरण से यह स्पष्ट है कि सुमेरियन लोगों के दसवें मनु ने ही वेदों का उद्धार किया। यह गाथा ज्यों की त्यों भारतीय पुराणों में पाई जाती है। सुमेरियन लोगों के दस अवतारों के सदृश ही भारतीय पुराणों में दस अवतारों का उल्लेख है। विचित्र बात तो यह है, कि यहूदियों के नवें अवतार का नाम **लामश्** भारतीय पुराणों के **रामः** से बहुत ही अधिक मिलता जुलता है।

---

dried up, found that it had stranded on a mountian in Armenia. He, therefore, descended with his wife, daughter, and pilot, bowed to the earth and offered sacrifices to the gods; these four all disappeared, and in the Babylonian account they received eternal life on an island beyond the Western Sea. When the others who had been saved in the boat descended, they called for Xisuthrus, and heard his voice from the air admonishing them to be pious; for because of his own piety, he had been translated to dwell with the gods. He ordered them to return to Babylonia, to search for the writings at Sippar and make them known to all men. This they did, and the Babylonians and Assyrians believed that all revealed knowledge, 'the mysteries' of the expiation, rituals and all true rules of conduct, had been thus preserved for them directly from the hands of the sages who lived before the deluge."

(See Semitic Mythology by S. H. Langdon p. 204)

CC-0.In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार स्पष्ट है कि श्वात्र्-या (shvātr-yaw) सुमेरियन जु-सूद्र (Ziu-sudra) का रूपांतर हो सकता है। निम्न-लिखित वेदों के मंत्र जिनमें **श्वात्र्य** शब्द आता है इसी बात को पुष्ट करते हैं।

त्वमग्ने प्रथमो मातरिश्वन आविर्भव सुक्रतूया **विवस्वते**।
अरे जेतांरोदसी होतृ वूर्येऽसन्नोर्भारमयजो महोवसो ॥ ३ ॥
त्वमग्ने **मनवे** द्यामवाशयः पुरूरवसे सुक्रते सुकृत्तरः।
श्वात्रेण यत्पित्रोर्मुच्यसे पर्यात्वा पूर्वमनयन्नापरं पुनः ॥ ४ ॥...
त्वामग्ने प्रथममायुमायवे दे वा अकृण्वन्नहुषस्य विश्पतिम्।
इळाम कृण्वन्मनुष्यस्य **शासनीं** पितुर्यत्पुत्रो ममकस्य जायते ॥११॥
[ऋग्वेद—म० १, सूक्त ३१]

उपरिलिखित मंत्रों में सृष्टि-उत्पत्ति का उल्लेख प्रतीत होता है। वैदिक-प्रार्थना का मुख्य देव अग्नि है। उससे किस प्रकार कौन कौन पैदा हुआ इसका उल्लेख है; मंत्र तीसरे का तात्पर्य यह है कि अग्नि **विवस्वत्** के लिये [विवस्वते] सबसे पूर्व प्रकट हुआ। मंत्र चार में **पुरूरवस् मनु** का उल्लेख है। इसके बाद **श्वात्र** का उल्लेख है। वेद में जो **वैवस्वत्** शब्द है, कोई कारण नहीं प्रतीत होता कि क्यों न वह **मनु वैवस्वत्** से संबद्ध हो? माना **विवस्वत्** सूर्य को भी कहते हैं परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि किसी का भी **रवि, सूर्य, बालादित्य** नाम नहीं हो सकता। **विवस्वत्, पुरूरवस् मनु** के बाद **श्वात्र** का उल्लेख तो बहुत ही स्वाभाविक है क्योंकि अंतिम वही तो हैं जिन्होंने पृथ्वी को मुक्त किया था। माना कि भारत से **श्वात्र-गाथा** अन्य गाथाओं के सदृश लुप्त हो गई परंतु अन्य देशों में रहनेवाले ब्राह्मणों ने जो गाथाएँ बचा रखी हैं उनसे सहारा लिया जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निम्नलिखित ऋग्वेद के मंत्र भी उत्पत्ति की गाथाओं से संबद्ध हैं। इनमें जहाँ जहाँ भी **श्वात्र** शब्द आया है वह प्रलय के दशम अवतार **सूत्र** या **सूद्र** से संबद्ध प्रतीत होता है।

अश्वी रथी सुरूप इद्गोमाँ इदिन्द्र ते सखा। **श्वात्रभाजा**
वयसा सच ते सदा चन्द्रो याति सभामुप॥
[ऋ०, मंडल ८, सूक्त ४, मंत्र ६]

स पूर्व्यो महानां **वेनः** ऋतुभिरानजे।
यस्य द्वारा **मनुष्पिता** देवेषु धिय आनजे॥ १॥
आदूनु ते अनु क्रतुं स्वाहा वरस्य यज्यवः।
श्वात्र मर्का अनूषतेन्द्र गोत्रस्य दावने॥ ५॥
[ऋ०, मं० ८, सूक्त ६३]

हविष्यान्तमजरं स्वर्विदि दिवि स्पृश्याहुतं जुष्टमग्नौ।
तस्य भर्मणे भुवनाय देवा धर्मणे कं स्वधया पप्रयन्त॥ १॥
गीर्णं भुवनं तमसाय गूळ्ह मावि: स्वरभवज्जाते अग्नौ।
तस्य देवाः पृथिवी द्यौरुतापोऽरण्यन्नोषधीः सख्ये अस्य॥ २॥
देवेभिर्न्विषितो यज्ञियेभिरग्निं स्तोषाण्यजरं बृहन्तम्।
यो भानुना पृथिवीं द्यामुनेमा मा ततान रोदसी अंतरिक्षम्॥ ३॥
यो होतासीत्प्रथमो देव जुष्टो यं समाञ्जन्नाज्येनावृणा नाः।
सपतत्री त्वरं स्था जगच्छ्व **ात्रमग्नि** र कृणोज्जातवेदाः॥ ४॥
[ऋग्वेद, म० १०, सूक्त ८८, मंत्र १-४]

इसी प्रकार **इंद्र-वैकुंठ**-संबंधी कुछ मंत्र हैं उनमें भी **श्वात्र्य** का उल्लेख है और साथ ही पिछले मंत्र में **मनु** शब्द आता है।

अहं दां गृणते पूर्व्यं वस्वहं ब्रह्म कृणवं मह्यं वर्धनम्।
अहंभुवं यजमानस्य चोदिता यज्वनः साक्षि विश्वस्मिन्भरे॥ १॥
अहम् **अर्णांसि** वि तिरामि सुक्रतुर्युधाविदं **मनवे** गातुमिष्टये॥ ६॥
अहं तदासु धारयं यदासु न देवश्त्वन त्वष्टाधारयद्रुशत्।
स्पार्हं गवामूधः सु वक्षणास्वामधोर्मधु**श्वात्र्यं** सोम माशिरम्॥ १०॥
[ऋग्वेद, मं० १०, सूक्त ४६]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूर्यकुमारी-पुस्तकमाला

ज्ञानयोग, खंड १-२	५)	पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास	२॥)
करुणा	३॥)	हिंदू राज्यतंत्र, भाग १	३॥)
शशांक	३)	कर्मवाद और जन्मांतर	२॥)
बुद्धचरित्र	२॥)	हिंदी-साहित्य का इतिहास	४॥)
मुद्राशास्त्र	२॥)	हिंदी-रसगंगाधर, भाग १	३॥)
अकबरी दरबार, भाग १-२	६)	हिंदी की गद्य-शैली का विकास	२)

देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला

चीनी यात्री फाहियान	१)	सुँहणोत नैणसी की ख्यात,	
चीनी यात्री सुंगयुन	१)	भाग १-२	७॥)
सुलेमान सौदागर	१)	मौर्य्यकालीन भारत	२)
अशोक की धर्मलिपियाँ	३)	मआसिरुल उमरा	४)
हुमायूँनामा	१॥)	बुंदेलखंड का संक्षिप्त इतिहास	३)
प्राचीन मुद्रा	३)		

बालाबख्श राजपूत चारण पुस्तकमाला

बाँकीदास ग्रंथावली,		शिखरवंशोत्पत्ति	॥।)
भाग १-२	१)	ब्रजनिधि-ग्रंथावली	३)
वीसलदेव रासो	१॥)	ढोला-मारूरा दूहा	४)

अन्य उपयोगी पुस्तकें

भक्त-नामावली	॥≡)	दोहावली	।–)
चंद्रावती या नासिकेतोपाख्यान	।)	गीतावली	१)
सुजान चरित्र	२)	कवितावली	॥=)
पृथ्वीराज रासो	५०)	जायसी-ग्रंथावली,	३)
हम्मीर हठ	॥)	तुलसी-ग्रंथावली, खंड १-२	५)
हम्मीर रासो	१॥)	कबीर ग्रंथावली	३)
राजविलास	१)	रानी केतकी की कहानी	।)
चित्रावली	२)	सूरसागर, प्रत्येक अंक का मूल्य	१)
परमाल रासो	२)	सुघड़ दर्जिन	॥)
दीनदयाल गिरि ग्रंथावली	१)	परिचर्या-प्रणाली	॥।)
खुसरो की हिंदी कविता	॥)	स्त्रियों के रोग और उनकी चिकित्सा	१)
प्रेमसागर	२)	कालबोध	≡)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हरिश्चंद्र काव्य	=)	ज्योतिष विज्ञान	॥)
महाराणा प्रताप नाटक	॥)	वैद्युत शब्दावली	१)
यूनान का इतिहास	॥।)	कीर्तिलता	१)
राज्यप्रबंधशिक्षा	॥)	गोस्वामी तुलसीदास	१।)
सत्यहरिश्चंद्र	।=)	हिंदी पद्य-पारिजात भाग १	॥।)
बालशिक्षा	॥)	,, ,, ,, २	१)
अन्योक्ति-कल्पद्रुम	।=)	पद्य-पारिजात	॥।)
वैशेषिक दर्शन	।=)	पंजाब की सर्च रिपोर्ट	१)
न्याय-प्रकाश	॥।)	हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का	
न्यायी नौशेरवाँ	॥=)	संक्षिप्त विवरण	३) ३॥)
हिंदी-व्याकरण	३।)	सूर सुषमा	१)
संक्षिप्त हिंदी-व्याकरण	।॥=)	भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की	
मध्य हिंदी-व्याकरण	॥)	सामग्री	॥)
प्रथम हिंदी-व्याकरण	।)	नागरीप्रचारिणी पत्रिका (जिल्ददार)	
प्रवेशिका पद्यावली	॥।)	भाग १-२	५) प्रति भाग
महादेव गोविंद रानडे (संक्षिप्त)	॥।)	नागरीप्रचारिणी पत्रिका (बिना जिल्द)	
हिंदी वैज्ञानिक शब्दावली—		भाग ३-४	४) प्रति भाग
भौतिक विज्ञान	॥।)	नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ६-१५	
रसायनशास्त्र	॥=)	(बिना जिल्द)	१०) प्रति भाग
गणित विज्ञान	॥।)		

अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रंथ

हिंदी-शब्दसागर (जिल्ददार)	४०)	रत्नाकर (साधारण संस्करण)	७)
,, ,, (बिना जिल्द)	४५)	भारतेंदु-ग्रंथावली, खंड २	३)
कोशोत्सव-स्मारक संग्रह	५)	रूप विघंटु कोश (प्रत्येक खंड का	
संक्षिप्त हिंदी-शब्दसागर	४)	मूल्य)	१॥)
द्विवेदी-अभिनंदन ग्रंथ	७॥)	इंडियन इमेजेज़	७॥)
रत्नाकर (राजसंस्करण)	८)	संगीत-समुच्चय, भाग १	२।)

Printed by A. Bose, at the Indian Press, Ltd.,
Benares-Branch.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[नवीन संस्करण]

भाग १६—अंक २

संपादक

श्यामसुंदरदास

—:※:—

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित

श्रावण संवत् १९९२] [मूल्य प्रति संख्या २॥) रुपया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
३—भारत में हूण-शासन [लेखक—श्री वासुदेव उपाध्याय, एम० ए०, काशी]	१२६
४—कुशानकालीन भारत [लेखक—श्री वृंदावनदास, बी० ए०, एल्-एल्० बी०, मथुरा]	१७१
५—रामचरित-मानस के संवाद [लेखक—श्री चंद्रबली पांडेय, एम० ए०, काशी]	१८३
६—भारतवर्ष के साम्राज्य-काल का एक संस्कृत इतिहास [लेखक—रायबहादुर श्री बैजनाथ पंड्या, काशी] ...	२२३
७—विविध विषय	२३१
८—राजस्थानी हिंदी और कबीर [लेखक—श्री सूर्यकरण पारिक, एम० ए०, पिलानी]	२३३
९—शक-संवत् (अपूर्ण) [लेखक—श्री वेणीप्रसाद शुक्ल, प्रयाग]	२४१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) भारत में हूण-शासन

[लेखक—श्री वासुदेव उपाध्याय, एम० ए०, काशी]

उपक्रम

भारतीय इतिहास में ईसा की पाँचवीं शताब्दी एक विशेष स्थान रखती है। इसी सदी के उत्तरार्द्ध में एक महान् घटना हुई थी जिसके कारण ऐतिहासिक रंगमंच पर एक नया दृश्य जनता के सम्मुख आया। यह सर्व-विदित है कि तीसरी शताब्दी से भारतीय सभ्यता के पोषक, ब्राह्मणधर्म के उत्थापक, परम भागवत गुप्त सम्राट् शासन कर रहे थे। इनके शासन-काल में भारत की सर्वतोमुखी उन्नति चरम सीमा को पहुँच चुकी थी। इस स्वर्णयुग के अंतिम सम्राट् स्कंद-गुप्त के राज्यकाल में उपर्युक्त घटना घटी थी। यह थी भारत में विदेशी हूणों का आगमन तथा आक्रमण। हूणों ने भारत पर आक्रमण कर एक राज्य स्थापित कर लिया था तथा गुप्त-साम्राज्य के नष्ट करने में सहायता पहुँचाई, जिससे इनकी भारतीय इतिहास में अपनी एक महत्ता है। प्रस्तुत लेख में इन्हीं हूणों के विषय में विवरण देने का प्रयत्न किया जायगा।

हूण-इतिहास की सामग्री

सर्वप्रथम यह जानना अत्यावश्यक प्रतीत होता है कि हूणों के इतिहास जानने के लिये किन किन ऐतिहासिक सामग्रियों का अध्ययन करना चाहिए। इसके जानने के लिये भिन्न भिन्न प्रकार की साहित्यिक तथा ऐतिहासिक बातों से सहायता मिलती है जिसके विवेचन से उनका इतिहास तैयार किया जा सकता है। इस प्रकार की सामग्रियाँ उपलब्ध हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) चीन देश का इतिहास—हूणों का चीन से अत्यंत घनिष्ठ संबंध है। वे पूर्वी तातार तथा युहची जाति की शाखा थे, जिसका वर्णन आगे किया जायगा।

(२) ईरान का इतिहास—हूणों की शाखा तिब्बत से होकर भारत में आई। यहाँ से परास्त होकर वे पश्चिम ईरान की तरफ चले गए। वहाँ के राजा को परास्त कर उन्होंने अपना शासन स्थापित किया। वहाँ के इतिहास में इसका वर्णन मिलता है।

(३) आर्य-मंजुश्री-मूलकल्प—यह एक बौद्ध ग्रंथ है जिसमें हूणों तथा गुप्त-नरेशों से युद्ध का वर्णन मिलता है। इसकी प्रामाणिकता के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता; क्योंकि इसमें किसी राजा का ऐतिहासिक नाम नहीं मिलता, वरन् कल्पित नाम मिलते हैं। जायसवाल महोदय ने इसी के आधार पर 'इंपीरियल हिस्ट्री आफ इंडिया' लिखी है। इस लेख में जहाँ-तहाँ इसी पुस्तक का उल्लेख किया गया है।

(४) राजतरंगिणी—कल्हण की राजतरंगिणी साहित्य के अतिरिक्त भारतीय ऐतिहासिक ग्रंथों में भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। कवि ने इसमें समस्त काश्मीर का इतिहास वर्णित किया है। इसका निर्माण मध्यकाल में हुआ था। राजतरंगिणी में वर्णित प्राचीन इतिहास की प्रामाणिकता में संदेह है। हूणों का वर्णन प्रथम तथा तृतीय तरंग में मिलता है, परंतु हूणों की वास्तविक ऐतिहासिकता से यह भिन्न है[1]।

(५) लेख—भारतीय इतिहास के निर्माण में लेखों (शिलालेख, स्तंभलेख तथा ताम्रपत्र) का अत्यंत ही महान् उपयोग है। प्राचीन भारत के अधिकतर विवरण इन्हीं लेखों के द्वारा मिलते

---

(१) देखिए—प्रथम परिशिष्ट में राजतरंगिणी का उद्धरण।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। हूण-इतिहास पर भी इनके द्वारा पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। गुप्त लेखों में हूण तथा गुप्त सम्राटों के युद्ध का वर्णन मिलता है। हूण सरदार सर्वप्रथम किस प्रकार परास्त किए गए; पुनः उन्होंने आक्रमण किया और एक राज्य स्थापित करने में सफलीभूत हुए। अन्य लेखों में उनकी अंतिम पराजय का वर्णन मिलता है। कुछ हूण राजाओं के भी लेख मिले हैं जिनसे उनके शासन तथा अन्य ऐतिहासिक बातों का पता लगता है। पाठकों की जानकारी के लिये उन लेखों का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। वे निम्नलिखित हैं[1] —

(क) स्कंदगुप्त का भितरी स्तंभ-लेख—इसमें हूण सरदार तथा अंतिम गुप्त सम्राट् स्कंदगुप्त के साथ युद्ध का वर्णन है। प्रशस्तिकार ने बहुत ही सुंदर ढंग से स्कंदगुप्त की सैनिक निपुणता तथा वीरता का उल्लेख किया है। उसने यह भी दिखलाया है कि गुप्त नरेश ने हूणों पर गहरी विजय प्राप्त की। यह लेख गाजीपुर जिले के भितरी नामक ग्राम में स्तंभ पर खुदा है।

(ख) स्कंद का जूनागढ़ शिलालेख—हूणों के पराजय से स्कंदगुप्त की कीर्ति का विस्तार शत्रुओं के देश-पर्यंत हुआ; इसका वर्णन इस लेख में किया गया है। इसकी तिथि गुप्त संवत् १३६ या १३७ का उल्लेख मिलता है। इसी लेख के आधार पर ज्ञात होता है कि हूणों का आक्रमण ईसा की पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। काठियावाड़ के जूनागढ़ के समीप पर्वत पर यह लेख खुदा है।

(ग) बुधगुप्त का एरण स्तंभ-लेख—यद्यपि स्कंदगुप्त के समय में ही हूणों ने गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण किया, परंतु गुप्त-नरेश के

---

(१) फ्लीट—गु० ले० (का० इ० इ० भा० ३) नं० १३, १४, १६, २०, २३, ३६ तथा ३७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा परास्त होने पर पुनः कुछ समय तक चढ़ाई करने का साहस न कर सके। इस लेख में बुधगुप्त के अधीनस्थ सामंत मातृ-विष्णु तथा धान्यविष्णु का उल्लेख मिलता है जो समयांतर में हूण सरदार तोरमाण के अधीन हो गए[1]। इस लेख की तिथि गु० सं० १६५ (ई० स० ४८५) है। इस तिथि से प्रकट होता है कि ई० स० ४८५ के पश्चात् ही हूणों ने पुनः गुप्तों पर आक्रमण किया होगा। मध्यप्रांत के सागर जिले से यह लेख प्राप्त हुआ है।

(घ) गोपराज का स्मारक एरण स्तंभ-लेख—बुधगुप्त के एरण-वाले लेख के समीप ही यह लेख मिला है। इसमें हूणों तथा भानुगुप्त के युद्ध का विवरण मिलता है। इसी लड़ाई में भानुगुप्त का सेनापति गोपराज मारा गया परंतु विजयलक्ष्मी गुप्त नरेश के हाथ आई। इसकी तिथि गु० सं० १९१ (ई० स० ५१०) है जिससे प्रकट होता है कि ई० स० ५१० के समीप गुप्त तथा हूणों में, मध्य भारत में, संघर्ष हुआ था।

(च) यशोधर्मन् का मंदसोर स्तंभ-लेख—गुप्त-साम्राज्य के ह्रास के अनेक कारण हैं जिनमें से मालवा के राजा यशोधर्मन् का भी उल्लेख किया जाता है। इस लेख में प्रशस्तिकार ने इस यशोधर्मन् नामक राजा की दिग्विजय का वर्णन किया है तथा हूण सरदार मिहिरकुल के द्वारा इसके पादसेवन का भी उल्लेख है। जैसा आगे दिखलाया जायगा, अंतिम समय में यशोधर्मा तथा गुप्त-नरेश बालादित्य ने हूणों को निकाल बाहर किया। इस विषय पर इस लेख की तिथि द्वारा उपर्युक्त घटना का समय निर्धारित कर सकते हैं। मालवा के इस लेख (मंदसोर) की तिथि इसी राजा के मंदसोर के दूसरे लेख[2] से स्थिर की जाती है।

---

(१) देखिए—फ्लीट, गु० ले० नं० ३६।

(२) फ्लीट—गु० ले० नं० ३५ (मा० सं० ५८३)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी तिथि मालवा संवत् ५८६ है, जिससे प्रकट होता है ई० स० ५३३ (मा० सं० ५८६) के समीप हूण लोग मध्य भारत से निकाल बाहर किए गए।

(छ) तोरमाण का एरण-लेख--यह लेख (जि० सागर, मध्य प्रांत) वाराह की प्रस्तर-मूर्ति पर खुदा है। इससे प्रकट होता है कि बुधगुप्त के सामंत मातृविष्णु तथा धान्यविष्णु हूण सरदार तोरमाण के अधीन हो गए थे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मध्य भारत में हूण-राज्य स्थापित हो गया था[1]। इसकी तिथि तोरमाण के शासन का प्रथम वर्ष दी गई है।

(ज) कुरा का लेख--भारत के पश्चिमोत्तर प्रांत के साल्ट रैंज में कुरा नामक स्थान से यह लेख मिला है[2]। इसमें जुवुल शब्द आता है जो संभवतः तोरमाण की पदवी थी क्योंकि जुवुल नामक उसकी शाही मुद्रा मिली है।

(झ) मिहिरकुल का ग्वालियर शिलालेख—यह लेख ग्वालियर से मिला है[3]। इसकी तिथि मिहिरकुल के शासन के १५वें वर्ष उल्लिखित है[4]। इसके आधार पर यह ज्ञात होता है कि हूण शासन मध्य भारत में स्थिर रूप से स्थापित था तथा अंतिम शासक मिहिरकुल कम से कम पंद्रह वर्षों तक राज्य करता रहा।

(ञ) मुद्रा—भारतीय इतिहास में लेखों के सदृश सिक्कों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन लेखों के अतिरिक्त हूणों के सिक्के भी उनके इतिहास-निर्माण में सहायता करते हैं। हूण लोगों ने जहाँ

---

(१) देखिए—परिशिष्ट १।
(२) ए० इ० भा० १, पृ० २३८।
(३) देखिए—परिशिष्ट २।
(४) 'अभिवर्धमान राज्ये पञ्चदशाब्दे नृप वृषण्या'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देश जीता तथा शासन किया, वहाँ के समान अपनी मुद्रा-नीति का भी संचालन किया।

ईसा से कई शताब्दियों पूर्व चीन के अंतर्गत मंगोलिया प्रदेश तथा पश्चिमी भाग में पूर्वी तातार नामक जाति निवास करती थी।

हूण कौन थे ?

युहची उसी की एक शाखा थी जिससे आगे चलकर हूणों की उत्पत्ति हुई। उस समय युहची जाति ने एक राज्य स्थापित कर लिया था और वह चीन के शासक पर चढ़ाई करती थी जिसका उल्लेख चीन के इतिहास में पाया जाता है। इनके सतत आक्रमण के डर से चीन के राजाओं ने चीन की प्रसिद्ध दीवार का निर्माण किया था। तातार की समस्त शाखाओं में युहची ही परम साहसी तथा वीर थे। प्राय: ईसा से २०० वर्ष पूर्व वे पश्चिमी तुर्किस्तान में जा बसे तथा उन्होंने ह्युनू के शासक पर आक्रमण किया; परंतु दुर्भाग्यवश उन्हें परास्त होना पड़ा तथा वे चीन की सीमा के समीप भाग गए। ह्युनू के राजा माद्दे (Mothe) का इतना प्रभाव बढ़ गया था कि चीन के शासक स्वयं भयभीत हो गए थे। जनरल कनिंघम का मत है कि लगभग ईसा से १५० वर्ष पूर्व ह्युनू के राजा ने युहची जाति के सरदार को युद्ध में मार डाला[1]। बल-क्षीण हो जाने के कारण युहची लोग स्थिर न रह सके और अन्य सुरक्षित स्थानों के लिये चल पड़े। उसी समय उनमें दो शाखाएँ हो गईं, जिन्होंने भिन्न भिन्न देशों में अपना निवासस्थान बनाया। भारत से दूर तुर्किस्तान (यारकंद, काशगर व खोटान) में आ बसनेवाले बड़े युहची कहलाए तथा तिब्बत में चली जानेवाली शाखा के लोगों का नाम छोटे युहची पड़ा। इन्हीं छोटे युहची को विद्वान् लोग हूण के नाम से पुकारते हैं।

---

(१) कनिंघम—आ० रि० (१८६३-४), पृ० ६२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़े युहची ने समयांतर में भारत के पश्चिमोत्तर देशों में एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया। ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी में ह्युनू का शासक मर गया जिसके कारण इनका प्रताप बढ़ा। चीन के इतिहास में उल्लेख मिलता है कि ई० पू० १२६ में चीन का राजदूत ताहिया आया था जिस समय बड़े युहची वहाँ के शासक थे। विद्वानों का मत है कि युहची पाँच शाखाओं में विभक्त होकर राज्य करते थे[1]। ताहिया के पश्चात् सबने मिलकर अरिया, काबुल तथा गांधार को जीतकर एक राज्य स्थापित किया। यही जाति उस सदी में शक-कुषाण के नाम से विख्यात हुई जिसने इंडो-ग्रीक के अंतिम शासक हरमेयस को परास्त कर भारत में कुषाण-साम्राज्य की नींव डाली[2]। ईसा से पूर्व पहली सदी से तीसरी शताब्दी पर्यंत इन्हीं कुषाणों ने शासन किया। कुषाणों का सम्राट् कनिष्क बहुत प्रतापी नरेश था जिसका राज्य खोटान से सारनाथ तक विस्तृत था[3]। तीसरी शताब्दी के पश्चात इनका बल शनैः शनैः क्षीण होने लगा। गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति में इनका उल्लेख मिलता है जिन्होंने गुप्त-शासक से भयभीत होकर मित्रता की भीख माँगी थी[4]। इस क्षीणावस्था में

---

(१) हरबेलाट—बिबलिआथिके ओरिएंटले, भा० ७।

(२) राय चौधरी—पोलिटिकल हिस्ट्री, पृ० ३१४। ह्वाइटहेड—कैटलाग आफ इंडो बैक्ट्रयन क्वायन्स।

(३) सारनाथ में कनिष्क के तीसरे वर्ष का एक लेख है जिसमें उसके महाक्षत्रप खर्पल्लाना का नामोल्लेख है। चीनी ऐतिहासिकों का कथन है कि कनिष्क ने पाटलिपुत्र तथा साकेत तक विजय किया था। (ए० इ० भा० १५, पृ० १४२। का० इ० इ० भा० २, भूमिका, पृ० ७२)

(४) 'दैवपुत्र शाहि शाहानुशाहि शक मुरुंडैः.....
आत्मनिवेदन कन्योपायनदान गरुत्मदङ्क स्वविषय भुक्ति शासन याचना'।
—प्रयाग का स्तम्भलेख (फ्लीट—गु० ले० नं० १)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ समय ये समय व्यतीत करते रहे, परंतु पाँचवीं शताब्दी में हूणों ने इनको समूल नष्ट कर दिया तथा अपनी सत्ता स्थापित की। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हूण कौन तथा किस जाति के थे। तातार से इनका संबंध और युहची की शाखा होने से यही प्रतीत होता है कि ये मंगोलियन जाति के थे। इन विदेशियों के भारत पर आक्रमण करने से गुप्त-प्रजागण विच्छिन्न से हो गए थे। उन्होंने इन्हें अपनी सभ्यता तथा वैष्णव-धर्म के नाशक समझकर गहरी आवाज उठाई। यही कारण है कि गुप्त-राजकुमार स्कंदगुप्त ने अपने अथक परिश्रम तथा पराक्रम से इनको मार भगाया। परंतु अगले नरेशों की निर्बलता ने पुनः इनको निमंत्रण दिया जिसके कारण ये विजयी हुए।

हूणों का भारत में आगमन

जैसा कि ऊपर कहा गया है, तिब्बत में निवास करनेवाली युहची की शाखा का नाम ही हूण है जिसका उल्लेख अधिकतर सफेद हूण (White Hunas) के नाम से किया जाता हैं। किस मार्ग से ये भारत में आए, इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ ज्ञात नहीं है। ईसा की पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इनके आगमन की सूचना लेखों से मिलती है।

स्कंद तथा हूण युद्ध

उस समय भारत के राजसिंहासन पर गुप्त-सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम शासन कर रहे थे। यों तो अपने पिता और पितामह के सदृश कुमारगुप्त प्रथम ने कोई देश नहीं जीता, परंतु उसके शासन-काल में प्रजा वैभव से पूर्ण थी। भारतीय संस्कृति का सर्वतोमुखी पूर्ण विकास हो गया था। ऐसे सुसंपन्न तथा राम-राज्य के शासन-कर्त्ता कुमार प्रथम के अंतिम दिन अशांतिमय हो गए थे, जिसका एकमात्र कारण इन हूणों का आक्रमण था। भितरी के स्तंभ-लेख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में वर्णन मिलता है[1] कि हूणों के आक्रमण से राज्य तथा प्रजागण क्षुब्ध हो गए थे परंतु स्कंदगुप्त ने अपने पराक्रम तथा भुजबल के कारण अपनी कुललक्ष्मी की मर्यादा को बचाया। प्रशस्तिकार ने वर्णन किया है कि इस युद्ध में पृथ्वी पर शयन करके स्कंदगुप्त ने रात व्यतीत की थी। हूणों के साथ घनघोर युद्ध ही नहीं हुआ परंतु उसके कारण पृथ्वी कंपायमान होने लगी थी। पाठक इस विवरण से ही युद्ध की भयानकता का अनुमान कर सकते हैं।

हूणों का आक्रमण-काल

स्कंदगुप्त के भितरी के लेख में हूणों के आक्रमण तथा पराजय का वर्णन मिलता है परंतु उसकी तिथि ज्ञात नहीं है। हूण-युद्ध का काल निर्धारित करने में गुप्त राजा स्कंद के जूनागढ़-लेख से सहायता मिलती है। उसमें वर्णन मिलता है कि स्कंद की विजय-कीर्ति तथा शत्रुओं के दमनकारी यश को म्लेच्छ देश में भी लोग गाते हैं[2]। इसमें उल्लि-

---

(१) पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीम्
भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः।
विचलितकुललक्ष्मीं स्तंभनायोद्यतेन
क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा॥
हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता।
समुदितबलकोशान् पुष्यमित्रांश्च जित्वा
क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः।

[विद्वानों में मतभेद है कि इसमें आनेवाले शब्द पुष्यमित्र का पाठ ठीक नहीं है। दिवेकर इसे युद्धमित्र बतलाते हैं। जायसवाल महोदय पुष्यमित्र एक जाति का नाम बतलाते हैं। जो कुछ भी हो, परंतु स्कंद ने विदेशियों को परास्त कर अपने साम्राज्य में शांति स्थापित की।]

(२) अपि च जितमेव तेन प्रथयन्ति यशांसि यस्य
रिपवोप्यामूलभग्नदर्पा निर्वचना म्लेच्छदेशेषु।
(फ्लीट—गु० ले०, नं० १४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खित म्लेच्छ तथा शत्रु हूणों के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं हो सकता। यदि यह समानता ठीक है तो हूणों का आक्रमण-काल जानने में बहुत सरलता हो जाती है। इसकी तिथि गु० सं० १३६ है; अतएव यह प्रकट होता है कि हूणों तथा स्कंद का संघर्ष सन् ४५५ ईसवी के समीप हुआ था। संभवतः यह युद्ध गंगा की घाटी में हुआ था[1]।

हूणों का ईरान-विजय और राज्य-स्थापन

गुप्त-सम्राट् स्कंदगुप्त ने अपने सैनिक नैपुण्य तथा शौर्य के कारण हूणों को बड़ी गहरी तरह से परास्त किया। उन्होंने पीठ दिखाने के बाद सुरक्षित स्थान के लिये पश्चिम की तरफ प्रस्थान किया। उन दिनों परशिया (ईरान) में ससानियन लोगों का राज्य था। मालकम का कथन है कि हूणों ने ई० स० ४५८ में ससानियन राजा फिरोज को परास्त करके अपना राज्य स्थापित किया[2]। इस विजय तथा ईरान में हूण-राज्य के समर्थक सिक्कों का भी प्रमाण मिलता है। ससानियन नरेशों के सिक्के एक विचित्र तरह के होते थे। ये बहुत पतले होते थे। एक तरफ अग्नि-कुंड (यज्ञवेदी) तथा उसके दोनों ओर दो रक्षकों की आकृति बनी रहती है और दूसरी ओर ससानियन ढंग की पगड़ी बाँधे राजा की मूर्त्ति। इन पर पहलवी भाषा में लेख (Legend) खुदा रहता है। इन्हीं सिक्कों के समान हूणों के भी सिक्के पहलवी भाषा में मिलते हैं[3]। अतएव इतिहास तथा सिक्कों के आधार पर प्रकट होता है कि हूणों ने ईरान पर शासन किया।

---

(१) श्रोत्रेषु गंगाध्वनिः। (गु० ले०, नं० १३)
(२) हिस्ट्री आफ परशिया, भा० १, पृ० १२६।
(३) कनिंघम—लेटर इंडो-सिथियन क्वायन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चीनी इतिहास के आधार पर यह ज्ञात होता है कि लेलिह नाम के हूण सरदार ने सर्वप्रथम भारत पर आक्रमण किया[1]। स्कंदगुप्त से परास्त होकर वे पश्चिम की ओर भागे तथा काश्मीर और ईरान में उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया। काश्मीर में लखन उदयादित्य का एक सिक्का मिला है। जनरल कनिंघम का मत है कि यह सिक्का लेलिह का ही है[2]। प्रिंसेप ने लखन के पाठ को भ्रमात्मक बतलाया है[3]। राजतरंगिणी में काश्मीर के राजा लखन नरेंद्रादित्य का वर्णन मिलता है[4]। संभव है, इसी ने (लेलिह से जिसकी समता करने पर) काश्मीर के उत्तरी भाग को जीता हो, परंतु इस विषय में कुछ निश्चित रूप से स्थिर नहीं किया जा सकता। जो कुछ भी हो, परंतु यह निश्चित है कि ई० स० ४५५ के समीप स्कंदगुप्त से परास्त किए जाने के पश्चात् हूणों ने काश्मीर तथा ईरान को जीता तथा वहाँ हूण-राज्य स्थापित किया।

काश्मीर पर विजय

यद्यपि गुप्त-सम्राट् स्कंदगुप्त के मरने पर राज्य का नाश नहीं हुआ परंतु उसी समय से उसकी दशा क्षीण होने लगी। गुप्तों की निर्बलता के कारण ही सौराष्ट्र तथा मालवा सर्वप्रथम स्वतंत्र हो गए। स्कंदगुप्त के पश्चात् किसी भी गुप्त-शासक के लेख तथा सिक्के नहीं मिलते। बुधगुप्त ही ऐसा राजा कहा जा सकता है जिसने गुप्त-साम्राज्य को सुसंगठित रखने का प्रयत्न किया।

गुप्त-साम्राज्य पर पुनः आक्रमण

---

(१) बील—रेकर्ड, भा० १, पृ० ९१, १००।

(२) लेटर इंडो-सिथियन, पृ० ९७, १११, प्लेट ७, १२।

(३) ऐंटीक्वेरी—भा० १, पृ० ४११।

(४) पद्मावत्यां सुतः तस्य नरेन्द्रादित्य इत्यभूत्।
लःखणापरनामा यो नरेन्द्रस्वामिनं व्यधात्॥
—राज० तरं० ३, ३८३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी के फल-स्वरूप या उसके बचे हुए गुप्त-प्रताप के कारण वह मालवा से पूर्वी और उत्तरी बंगाल पर्यंत शासन कर सका[1]। इसके बाद कोई भी ऐसा गुप्त-नरेश न हुआ जो शासन की बागडोर मजबूती से सम्हाल सका। गुप्तों से पराजित हूण सरदार अपना बदला लेने का अवसर देख रहे थे। इन्होंने गुप्तों की निर्बलता से लाभ उठाया और पुनः आक्रमण कर दिया। इस समय गुप्त राजा उनके आक्रमण को रोक न सके और उन्हें हूणों से पराजित होना पड़ा।

मध्य भारत में हूण-राज्य की स्थापना

दूसरी बार आक्रमण के फल-स्वरूप हूणों की नींव जम गई। भारत की पावन भूमि, सस्यश्यामल वैभवपूर्ण वसुंधरा, स्वर्णयुग के निवासी जन-समूह तथा गुप्त-नरेशों द्वारा पालित संस्कृति विदेशी हूणों के अधीन हो गई। हूणों ने अपना राज्य-विस्तार कहाँ तक किया इसका विचार आगे किया जायगा, यहाँ इतना समझ लेना चाहिए कि दूसरे आक्रमण के बाद मध्य भारत में हूणों ने अपना राज्य स्थापित किया। इसकी जानकारी के लिये एरण के दो लेखों से सहायता मिलती है। प्रथम लेख बुधगुप्त का है जिससे ज्ञात होता है कि गु० सं० १६५ (ई० स० ४८५) के समीप एरण गुप्तों के हाथ में था। मातृविष्णु तथा

---

(१) इसके प्रमाण के लिये तीन लेखों का उल्लेख किया जाता है—
(अ) एरण का स्तंभ-लेख—गु० सं० १६५।
(फ्लीट—गु० ले०, नं० १६)
(ब) सारनाथ का मूर्ति-लेख—गु० सं० १५७।
(आ० स० रि०, १६१३-१४)
(स) दामोदरपुर का ताम्रपत्र।
(ए० इं०, भा० १५)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

NOT TO BE ISSUED

उसके अनुज धान्यविष्णु का उल्लेख मिलता है जो बुधगुप्त के अधीनस्थ थे। एरण का दूसरा लेख हूण सरदार तोरमाण के शासन के प्रथम वर्ष का है। उस लेख में उपर्युक्त धान्यविष्णु तथा मातृविष्णु का नामोल्लेख है जो बुधगुप्त के पश्चात् तोरमाण के अधीन हो गए थे। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि ई० स० ४८५ के पश्चात् ही हूणों ने पुनः आक्रमण किया तथा गुप्तों को परास्त कर मध्यभारत में हूण-शासन की नींव डाली।

यद्यपि कुछ ऐतिहासिक विद्वान् लेलिह को सर्वप्रथम हूण सरदार मानते हैं जिसने भारत पर आक्रमण किया था। परंतु तोरमाण ही ऐसा हूण वीर सरदार था जिसका प्रभाव भारत में स्थापित हो सका।

तोरमाण

तोरमाण ने पुनः गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण करके विजय प्राप्त की और मध्यभारत में एक राज्य की नींव डाली। तोरमाण के लेख तथा सिक्के मिलते हैं जिनसे उसका शासन-काल तथा राज्य-विस्तार स्थिर किया जाता है। ऊपर उल्लेख किया गया है कि तोरमाण के दो लेख मिलते हैं—(१) साल्ट रैंज का और (२) एरण का वाराह मूर्ति वाला लेख। साल्ट रैंज के लेख में केवल 'जुबुल' शब्द मिलता है। कनिंघम का मत है कि इस जुबुल की तोरमाण से समता कर सकते हैं। उसके ससानियन ढंग के सिक्कों पर 'जुबुलशाहो' लिखा रहता है। इसी आधार पर सौल्ट रैंज का लेख सरदार तोरमाण का माना जा सकता है।

भारत के पश्चिमोत्तर प्रांत में टर्कीशाही के पश्चात् ब्राह्मण-शाही नरेश राज्य करने लगे थे। क्षत्रियशाही (टर्कीशाही) के अंतिम राजा लगतुरमान को मारकर ब्राह्मण मंत्री कल्लर उद्भांडपुर का शासक बन बैठा। इसी स्थान में कमलु नाम का राजा

REFERENCE BOOK

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ। अरब इतिहास-लेखकों के आधार पर यह प्रकट होता है कि काश्मीर के राजा गोपालवर्मन् के मंत्री प्रभाकरवर्धन ने शाही राजा को मारकर उद्भांडपुर का सिंहासन कमलुक को दे डाला। अलबेरूनी के यात्रा-विवरण तथा जवामि-उल्-हिकायात में भी उस राजा का उल्लेख मिलता है। राजतरंगिणी में इसे कमलुक नाम दिया गया है। इस कमलु (राजतरंगिणी) या कमलु-राय (उल्-हिकायात) की समता इतिहासज्ञ तोरमाण से करते हैं। परंतु यदि दोनों के पूर्ववर्ती राजाओं पर विचार किया जाय तो यह समीकरण ठीक नहीं प्रतीत होता। शाही सिक्कों में से खुदवयक की मुद्रा को टामस कमलु की मानते हैं। लेखक को कमलु या कमलुराय की स्थिति मानने में तनिक भी संदेह नहीं है। उसे अरब लेखक अलबेरूनी, मुसलिम ग्रंथों तथा राजतरंगिणी में वर्णित किया गया है। कमलु की ऐतिहासिकता में विश्वास करते हुए भी तोरमाण से उसकी समता करना अप्रामाणिक ज्ञात होता है।

तोरमाण का राज्य-विस्तार

ऊपर यह बतलाया गया है कि तोरमाण का उल्लेख कमलु (ग्रंथों), जुबुल (साल्ट रैंज), जुबुलशाही (ससानियन ढंग के सिक्के) तथा तोरमाण (एरण का लेख) के रूप में मिलता है। अतएव ग्रंथों, लेखों तथा सिक्कों के आधार पर प्रकट होता है कि तोरमाण एक बड़ा राजा था। ससानियन ढंग के सिक्के बतलाते हैं कि ईरान में भी तोरमाण का प्रताप था। एरण के लेख से प्रकट होता है कि ई० स० ४८५ के पश्चात् तोरमाण का शासन मालवा में स्थापित हो गया था। इसको तोरमाण के सिक्कों से भी प्रमाणित कर सकते हैं। मध्यभारत में गुप्त राजाओं ने एक प्रकार के चाँदी के सिक्के प्रचलित किए थे। तोरमाण ने उसी ढंग का सिक्का चलाया। अतः एरण का लेख सिक्कों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से प्रमाणित किया जाता है। इन प्रमाणों के आधार पर तोरमाण के राज्य का विस्तार काबुल से लेकर मध्यभारत तक प्रकट होता है। यदि उसने एक साथ राज्य न किया हो तो भी इसमें कोई संदेह नहीं कि उन पर वह शासन कर चुका था।

तोरमाण के पश्चात् उसका पुत्र मिहिरकुल राज्य का अधिकारी हुआ। प्रशस्तिकार ने मिहिर को कुलकीर्ति को बढ़ानेवाला तथा अतुल पराक्रमी कहा है[1]। इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि मिहिरकुल वीर सरदार था। उसने शत्रुओं के मध्य में रहते शासन को स्थिर रखा, राज्य को छिन्न-भिन्न होने से बचाया तथा वह पर्याप्त समय तक राज्य करता रहा। मिहिरकुल के विषय में उसके लेखों तथा सिक्कों से सहायता मिलती है। इसका एक लेख मध्यभारत के ग्वालियर नामक स्थान से मिला है। मिहिरकुल के सिक्के ससानियन, कुषाण तथा अन्य तरह के मिलते हैं जिन पर उसका नाम मिलता है। ये सिक्के राजपुताना, पंजाब, काश्मीर तथा गांधार के प्रदेशों में मिलते हैं। कल्हण ने मिहिरकुल को काश्मीर का राजा लिखा है[2]। इन सब प्रमाणों से प्रकट होता है कि उसका राज्य गांधार (अफगानिस्तान तथा उसके पश्चिमी प्रदेश) से लेकर मध्यभारत तक विस्तृत था। स्यालकोट उसकी राजधानी थी।

मिहिरकुल

---

(१) श्री तोरमाण इति यः प्रथितो भूचक्रपः प्रभूतगुणः

× × × ×

तस्योदितकुलकीर्तेः पुत्रोतुलविक्रमः पतिः पृथिव्याः मिहिरकुलेतिख्यातो × × × ×

—ग्वालियर का लेख (फ्लीट—गु० ले०, नं० २७)।

(२) राजतरंगिणी (स्टेन अनुवाद), भा० १, पृ० ४३-८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हूण-सरदारों के शासन-काल के विषय में किसी निश्चित तिथि का उल्लेख नहीं मिलता; परंतु लेखों में उल्लिखित तिथि के आधार पर उनके शासन की अवधि स्थिर की जाती है। मिहिरकुल के ग्वालियर के लेख में—

शासन-काल

'तस्मिन् राजनि शासति पृथिवीं पृथुविमललोचनेर्तिहरे अभिवर्धमान-राज्ये पंचदशाब्दे नृपवृषभ्या॥' का उल्लेख मिलता है। इससे प्रकट होता है कि मिहिर के १५ वर्ष राज्य करने पर यह लेख खोदा गया था। इसके बाद या सब मिलकर कितने वर्ष तक उसने राज्य किया यह कहा नहीं जा सकता। मालवा के राजा यशोधर्मन् के मंदसोर के लेख (ई० स० ५३३ के समीप) में मिहिरकुल के पराजय करने का उल्लेख मिलता है[1]। अतएव यह ज्ञात होता है कि लगभग ई० स० ५०० के बाद से ई० स० ५३३ के समीप अर्थात् तेंतीस वर्षों तक मिहिर शासन करता रहा।

मध्यभारत में राज्य स्थापित होने के कारण मिहिरकुल का प्रताप सर्वत्र फैल गया। सर्वत्र इसका आतंक छा गया और राजा लोग इसके अधीन हो गए। गोपराज के एरण के लेख (गु० सं० १८१) में उल्लेख मिलता है[2] कि एरण के समीप गुप्त राजा भानुगुप्त के सेनानायक के रूप में गोपराज ने घनघोर युद्ध किया। परंतु इस लड़ाई में वह मारा गया। लेख की तिथि ई० स० ५१० (गु० सं० १८१) से प्रकट होता है कि हूण के अतिरिक्त मध्य भारत में गुप्तों का कोई शत्रु नहीं था। अतः संभव है कि हूण सरदार ने युद्ध में गुप्तों को परास्त किया हो। इस घटना से ज्ञात होता है कि हूणों का

मिहिरकुल का प्रभाव

---

(१) फ्लीट—का० इ०, इ०, भा० ३, नं० ३३।
(२) वही, नं० २०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रताप अधिक विस्तृत हो गया था। इसके प्रमाण-स्वरूप यशोधर्मन् के मंदसोर लेख को उपस्थित किया जा सकता है। उसमें वर्णन मिलता है कि हूणों की आज्ञा को अनेक क्षितिपति मानते थे तथा हूण सरदार के सम्मुख अपने मुकुटधारी शिर को झुकाते थे[1]। राजपुताना और मध्यभारत आदि स्थानों में इनके सिक्कों का भी प्रचार पाया जाता है। इन समस्त प्रमाणों के आधार पर मिहिर-कुल के प्रताप का अनुमान किया जा सकता है।

आधुनिक समय तक यह एक अत्यंत विवादास्पद विषय है कि किस भारतीय नरेश ने हूण सरदार मिहिरकुल को परास्त किया तथा हूणों के प्रभाव को छिन्न-भिन्न कर डाला। मिहिरकुल के पराजय ही से हूणों का प्रताप नष्ट हो गया। कहीं कहीं हूणों की छोटी छोटी बस्तियाँ थीं जो समयांतर में भारतीय राजाओं द्वारा नष्ट कर दी गईं। मिहिरकुल के पराजय का उल्लेख मंदसोर के लेख तथा चीनी यात्री ह्वेनसांग के विवरण में पाया जाता है। यशोधर्मन् के लेख (मंदसोर) में वर्णन मिलता है कि इसके दोनों पैर मिहिर के बालों में लगाए गए पुष्पों द्वारा पूजित होते थे तथा यशोधर्मन् की आज्ञा के सम्मुख उसका सिर झुकता था[2]। इन शब्दों द्वारा मिहिरकुल का परास्त होना स्पष्ट हो जाता है।

मिहिर का पराजय

दूसरा उल्लेख चीनी बौद्ध यात्री ह्वेनसांग ने किया है। उसके कथनानुसार मिहिरकुल को यशोधर्मन् ने परास्त नहीं किया परंतु

---

(१) आज्ञा हूणाधिपानां क्षितिपतिमुकुटाध्यासिनीयान्प्रविष्टा।

(२) नीचैः तेनापि यस्य प्रणतिभुजबलावर्जनक्लिष्टमूर्ध्ना
चूडापुष्पोपहारैः मिहिरकुलनृपेणार्चितं पादयुग्मम्।
—मंदसोर का लेख (फ्लीट—गु० ले०, नं० ३३)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह मगध के बालादित्य नामक राजा के हाथों परास्त हुआ। मगध के राजा बालादित्य का स्थान गुप्त वंशावली में क्या है यह निश्चित नहीं है। इसको एलन आदि विद्वानों ने पुरगुप्त का लड़का नरसिंह गुप्त (जिसकी पदवी बालादित्य थी) माना है[1]। एलन का यह समीकरण नितांत निराधार है तथा इसका सप्रमाण खंडन अन्यत्र किया गया है[2]। इस स्थान पर उस विवाद के लिये स्थान नहीं; अतः अपने विषय पर आता हूँ। ह्वेनसांग ने बालादित्य द्वारा मिहिर के पराजय का निम्नलिखित वर्णन किया है—

"मगध का राजा बौद्ध था तथा सुचारु रूप से अपनी प्रजा का पालन करता था। मिहिरकुल के अत्याचार के कारण उसने टैक्स (कर) देना बंद कर दिया। उसने अपने मंत्रियों से कहा कि मैं लड़ नहीं सकता, अतएव उसने अपने को छिपा लिया। इस प्रकार वह भागकर जंगलों तथा पर्वतों में घूमने लगा। मिहिरकुल ने स्वयं बालादित्य पर आक्रमण करने के लिये प्रस्थान किया। उसकी सेना तंग रास्ते को तय कर रही थी (जिसकी बालादित्य रक्षा कर रहा था) और अभी तक शत्रु के पास भी नहीं पहुँची थी कि एकाएक नगाड़ा बजा और बालादित्य की सेना ने मिहिरकुल को कैद कर बालादित्य के सम्मुख उपस्थित किया।

"मिहिरकुल ने बादशाह (बालादित्य) को देखकर मुख छिपा लिया। बार बार कहने पर भी उसने मुख पर से वस्त्र नहीं हटाया और कहने लगा कि प्रजा राजा के स्थान तथा राजा प्रजा के स्थान पर लाए गए हैं। क्रोधित होकर बालादित्य ने उसे मृत्यु के दंड की आज्ञा दी।

---

(१) एलन—गुप्त सिक्के, भूमिका पृ० १६५।

(२) देखिए मेरा लेख—नालंदा महाविहार के संस्थापक (ना० प्र० प०, नवीन सं०, भा० १५, अंक २, पृ० १४६-१५६)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"बालादित्य की माता ने ऐसी खबर पाकर राजा को रोका। उसने कहा कि मिहिरकुल एक सुंदर तथा चतुर मनुष्य है, अतएव मैं उसे देखना चाहती हूँ। रानी ने मिहिर को बहुत समझाया कि समय परिवर्तनशील है। मैं तुम्हारी माता हूँ और तुम मेरे पुत्र हो, अतएव मुख खोलकर बातें करो।

"मिहिरकुल ने जवाब दिया कि कुछ समय पूर्व मैं एक विजयी शासक था और अब कैदी हूँ जिसको मृत्यु-दंड दिया गया है। मैंने अपना राज्य खो दिया इसलिये मैं अपने वंशज और जनता के सामने लज्जित हो रहा हूँ। वास्तव में मैं सभी के सम्मुख लज्जित हो रहा हूँ। राजमाता ने कहा कि दुःख-सुख साथ रहते हैं। समयानुकूल कार्य होता है। तुम अपने मुख से वस्त्र हटाओ, मैं तुम्हें जीवन-दान दूँगी।

"माता ने बालादित्य से कहा कि दोषी को क्षमा करना तथा जीवन-दान देना चाहिए। इसके अपराध कम हैं परंतु इसमें सद्गुण अनेक हैं। मुझे ज्ञात होता है कि यह एक छोटे देश का राजा होगा। इसलिये इसे उत्तर में कहीं राज्य करने दो।

"बालादित्य ने माता के आज्ञानुसार मिहिर को छोड़ दिया। उससे मित्रता कर ली तथा एक राजकुमारी का व्याह उससे कर दिया। लौटने पर मिहिरकुल ने अपने लिये एक राज्य स्थापित कर लिया। विशाल राज्य के खो देने पर काश्मीर के उत्तर में उसने एक छोटा स्थान चुन लिया[1]।"

उपर्युक्त दोनों विवरणों में विभिन्नता होने के कारण विद्वानों में मिहिरकुल के विजेता के विषय में विवाद है। वे मिहिरकुल के समकालीन मंदसोर के लेख को अधिक प्रामाणिक मानते हैं तथा

---

(१) बील—रेकर्ड आफ वेस्टर्न वर्ल्ड, भा० १, पृ० १६८-७१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ह्वेनसांग के वृत्तांत को स्वीकार नहीं करते[१]। स्मिथ का मत है कि यशोधर्मन् तथा बालादित्य का मिहिरकुल से एक ही साथ युद्ध हुआ। मंदसोर-लेख और ह्वेनसांग का विवरण उसी के द्योतक हैं[२]। फ्लीट दोनों उल्लेखों को सच मानते हैं। उनका विश्वास है कि पूर्व में बालादित्य ने तथा पश्चिम में यशोधर्मन् ने मिहिरकुल को परास्त किया[३]। एलन[४] तथा मुकर्जी[५] महोदय इसी मत से सहमत हैं। उनके कथनानुसार मालवा में मिहिरकुल पराजित हुआ।

यदि ह्वेनसांग का वृत्तांत प्रामाणिक माना जाय तो यह निश्चित है कि मिहिरकुल काश्मीर के उत्तर एक छोटा सा राज्य स्थापित कर रहने लगा था। वह पुनः मध्य भारत की ओर नहीं लौटा। इसके अतिरिक्त मंदसोर-लेख में भी उसके पराजय का उल्लेख है। ऐसी अवस्था में दोनों शासकों से हूणों के युद्ध का समय स्थिर करने में कठिनता दिखलाई पड़ती है। फ्लीट का कथन है कि अंतिम समय यशोधर्मन् ने उसे परास्त किया। यदि मिहिरकुल बालादित्य से परास्त होकर काश्मीर की ओर चला गया (जैसा ह्वेनसांग ने वर्णन किया है) तो फिर किस समय यशोधर्मन् से उसका युद्ध हुआ? इस विवाद को समाप्त करने के लिये दो बातों का ध्यान रखना होगा। प्रथम तो यह कि यशोधर्मन् ने लौहित्य तक देशों पर विजय प्राप्त की थी[६] और संभवतः इसी ने बालादित्य को

---

(१) जे० आर० ए० एस० १९०९, पृ० ९७८; जे० बी० बी० ए० एस, भा० २४, पृ० ५९४-५।

(२) अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० ३३७।

(३) फ्लीट—इ० ए०, भा० १८, पृ० २२८।

(४) एलन—गुप्त सिक्कों की सूची, पृ० ५९।

(५) हर्ष, पृ० ५९।

(६) आलौहित्योपकण्ठातलबलगहनेापत्यकादामहेन्द्राः। (मंदसोर-लेख)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुत्र वज्र को मारकर गुप्त-वंश को नष्ट कर डाला था[1]। अतएव यशोधर्मन् तथा मिहिरकुल के युद्ध से पूर्व ही बालादित्य तथा उसका पुत्र वज्र मर चुके थे। इस कथन को मानते हुए भी ह्वेनसांग के कथन की प्रामाणिकता नष्ट नहीं हो जाती कि बालादित्य से परास्त होकर मिहिरकुल काश्मीर की ओर चला गया था। लेखक के मतानुसार मिहिरकुल तथा बालादित्य का संघर्ष यशोधर्मन् के दिग्विजय से पूर्व समाप्त हो चुका था[2]। यशोधर्मन् ने मिहिरकुल को अपने काश्मीर के विजय के समय परास्त किया हो। मंदसोर-लेख तथा ह्वेनसांग के कथन में किसी निश्चित तिथि का उल्लेख नहीं मिलता जिसके कारण दोनों संघर्षों के समय में मतभेद हो सके। बालादित्य के पश्चात् यशोधर्मन् के साथ मिहिरकुल का युद्ध मानना अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। मंदसोर लेख के जिस श्लोक में काश्मीर आदि के विजय का वर्णन है उसी में मिहिर के पराजय का भी उल्लेख है[3]। इसकी पुष्टि कल्हण की राजतरंगिणी से भी होती है जिसमें वर्णन मिलता है कि मध्य भारत के किसी यशोधर्मन् राजा ने काश्मीर पर चढ़ाई की थी और काश्मीर को जीता था[4]।

---

(१) राय चौधरी—पोलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंशेंट इंडिया, पृ० ४०३; जायसवाल—इंपीरियल हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० ४१।

(२) जायसवाल—इंपीरियल हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० ३७-८।

(३) स्थाणोरन्यत्र येन प्रणति कृपणतां प्रापितं नोत्तमाङ्गम्
यस्याश्लिष्टो भुजाभ्यां वहति हिमगिरिः दुर्गशब्दाभिमानम्।
नीचैः तेनापि यस्य प्रणतिभुजबलावर्जनक्लिष्टमूर्ध्ना
चूडापुष्पोपहारैः मिहिरकुलनृपेणार्चितं पादयुग्मम्॥

(४) राज०—३। १२५—२६। [मंदसोर-लेख]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन समस्त विवरणों को ध्यानपूर्वक मनन करने से यह ज्ञात होता है कि बालादित्य ने मिहिरकुल को पहले परास्त किया था। उसे यशोधर्मन् ने कुछ समय के पश्चात् अपने दिग्विजय के सिलसिले में पराजित किया। पराजय-स्थान हिमालय पर्वतों की शृंखला में स्थित काश्मीर के समीप कोई स्थान था। अतएव मिहिरकुल के अंतिम पराजय के सभी विवादास्पद विषयों का निपटारा हो जाता है। वह न तो दोनों से एक साथ हारा और न पूर्व में बालादित्य ने तथा पश्चिम में यशोधर्मन् ने उसे हराया। उसका युद्ध-स्थल मालवा नहीं था परंतु काश्मीर था।

यद्यपि यशोधर्मन् के हाथों हूण-राज्य नष्ट हो गया तथा उनका प्रताप क्षीण हो गया तथापि यत्र तत्र हूण शासक राज्य करते रहे। राजतरंगिणी में मिहिरकुल की वंश-परंपरा में खिंखिल नरेंद्रादित्य का नाम मिलता है[1]। कनिंघम ने हूण ढंग के कुछ सिक्कों का वर्णन किया है जिन पर खिंखिल लिखा है[2]। मुद्रा-शास्त्र-वेत्ताओं का कथन है कि दोनों एक ही पुरुष हैं। परंतु खिंखिल के सिक्के मिहिरकुल के सिक्कों से पहले के ज्ञात होते हैं[3]।

अन्य हूण शासकगण

गुप्तों के पश्चात् उत्तरी भारत के ऐतिहासिक रंग-मंच पर मौखरि नरेशों का आगमन होता है[4]। ये लोग भी गुप्तों की तरह हूणों से बराबर लड़ते रहे। मौखरि-वंश के पाँचवें राजा ईशान-

(१) सूनुः नरेन्द्रादित्यस्य खिंखिलाख्याभिधोऽभवत्। राज०—१—३४७।

(२) कनिंघम—लेटर इंडो-सिथियन क्वायन, पृ० ६७, प्लेट ७, नं० ११। रैपसन—क्वायन आफ ऐंशेंट इंडिया, पृ० २६।

(३) जे० ए० एस० बी० १८६०।

(४) जे० बी० ओ० आर० एस० १६३४, पृ० ५२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्मा के पुत्र सर्ववर्मा से हूण शासकों के संघर्ष का वर्णन मिलता है। ईशानवर्मा की तिथि ई० स० ५५५ के समीप है जो हरहा के लेख से ज्ञात है[1]। अतएव सर्ववर्मन् तथा हूणों का युद्ध प्रायः छठीं शताब्दी की तीसरी चौथाई में हुआ होगा। इस युद्ध का वर्णन गुप्त-नरेश आदित्यसेन के अफसाद लेख में मिलता है[2]। उसी शताब्दी की अंतिम चौथाई में थानेश्वर के शासक प्रभाकरवर्धन (हर्षवर्धन के पिता) ने हूणों पर विजय प्राप्त किया था। हर्ष के राजकवि बाण ने हर्षचरित में इसका वर्णन किया है[3]। इन राजाओं से परास्त होने पर भी हूण लोगों का मूल नष्ट न हो सका। प्रायः ई० स० ८७२ के समीप के दक्षिण भारत के राजा राष्ट्रकूट-नरेश कर्क द्वितीय ने उनको युद्ध में हराया था। इसका स्पष्ट उल्लेख राष्ट्रकूट राजा के खरदा दानपत्र में किया गया है[4]। इन सब विवरणों से ज्ञात होता है कि ईसा की दसवीं सदी के अंतिम काल तक हूण सरदार पंजाब के दक्षिण भाग में शासन करते रहे।

हूणों की कालगणना

जैसा ऊपर वर्णन किया गया है कि साहित्य, लेख तथा सिक्कों के आधार पर चार हूण सरदारों—(१) लेलिट, (२) तोरमाण, (३) मिहिरकुल तथा (४) खिंखिल—का नाम मिलता है। इन राजाओं ने कितने दिन राज्य किया, इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ ज्ञात नहीं है; परंतु

---

(१) हरहा की प्रशस्ति (ए० इ० भा० १४, पृ० ११५)।

(२) यो मौखरेः समितिपूद्धतहूणसैन्या—अफसाद का लेख (फ्लीट—गु० ले० नं० ४२)

(३) हूण-हरिण-केशरी सिन्धुराजज्वरो गुर्जरप्रजागरो गान्धारा धिपगन्धद्विपकूटपाटलो × × × × मालवलतापरशुप्रतापशील इति प्रथितापरनामा प्रभाकरवर्धनो नाम राजाधिराजः।

हर्षचरित, चतुर्थ उच्छ्वास।

(४) डा० आल्टेकर—राष्ट्रकूट एंड देयर टाइम्स, पृ० २५१।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समकालीन लेखों में उनके युद्ध का उल्लेख मिलता है जिससे काल-गणना करने में सहायता मिलती है। प्रथम तथा चौथे राजा के विषय में बहुत कम ज्ञात है परंतु तोरमाण तथा मिहिरकुल के विषय में पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। समस्त प्रमाणों के आधार पर हूणों की निम्नलिखित काल-गणना ज्ञात होती है—

समय	घटनाएँ
ईसा पूर्व १५०	युहचियों का दो शाखाओं में विभक्त होना।
ई० स० ४५५	भारत में आगमन तथा प्रथम आक्रमण।
,, ४५६	स्कंदगुप्त के द्वारा हूणों का पराजय।
,, ४५८	ईरान पर चढ़ाई तथा फिरोज की मृत्यु।
,, ४६०	पुनः गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण।
,, ५००	तोरमाण द्वारा मध्यभारत में राज्य-स्थापना।
,, ५०२	मिहिरकुल का हूण-राज्य का उत्तराधिकार।
,, ५१०	एरण में गोपराज से युद्ध।
,, ५२६	बालादित्य द्वारा मिहिरकुल का पराजय तथा काश्मीर में राज्य करना।
,, ५३२	यशोधर्मन् के हाथ मिहिरकुल का काश्मीर में परास्त होना।
,, ५४०	मिहिर की मृत्यु।
,, ५६०	सर्ववर्मन् मौखरि का हूणों पर विजय।
,, ५८५	प्रभाकरवर्धन द्वारा हूण-पराजय।
,, ७७२	राष्ट्रकूट कर्क द्वितीय द्वारा हूणों का परास्त होना।

नोट—इन तिथियों को निश्चित नहीं मानना चाहिए। इनके आस-पास ये घटनाएँ घटी थीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हूण विदेशी युहची-शाखा के थे जिनकी धार्मिक-भावना का अनुमान शीघ्र करना कठिन काम है। भारत में इनके आगमन से यहाँ का प्रभाव उन पर अवश्य पड़ा होगा जिस कारण उनमें धार्मिक विचार का उदय मिलता है। जिस प्रदेश पर वे शासन करते थे, वहाँ ईसा की पहली शताब्दी से कुषाणों का राज्य था। पिछले कुषाण शैव थे। वासुदेव (कुषाण शासक) के सिक्कों पर वृषभ-वाहन-युक्त चतुर्भुजी शिव की मूर्ति मिलती है। इसी कारण हूणों पर भी इसका प्रभाव पड़ा। हूण सरदार मिहिरकुल के ताँबे के सिक्के मिलते हैं, जिन पर एक ओर 'श्री मिहिर' लिखा है तथा दूसरी ओर ऊपर वृषभ और उसके नीचे "जयतु वृष' या 'जयतु वृषध्वज' अंकित पाया जाता है[1]। इसके आधार पर प्रकट होता है कि मिहिरकुल शैव था। इस कथन की पुष्टि कल्हण की राजतरंगिणी से होती है जिसमें लिखा है कि मिहिर ने 'श्री नगरी' में मिहिरेश्वर नामक शिव-मंदिर की स्थापना की[2]। इससे उसके शैव होने की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। ह्वेनसांग ने लिखा है कि मिहिर बौद्ध-धर्म का विरोधी था[3]। मिहिरकुल के अतिरिक्त उसके वंश-परंपरागत शासकों द्वारा शिव-मूर्ति की स्थापना का वर्णन राजतरंगिणी में मिलता है[4]।

हूणों के समय में धार्मिक-भावना

शिव-पूजा

---

(१) कनिंघम—लेटर इंडो-सिथियन क्वायन्स, प्लेट ८, ३ ८
स्मिथ—इंडियन म्यूजियम कैटलाग, २५, ५।

(२) राजत०—१, ३०६-७ (स्टेन अनु०)

(३) सुयुकी—ह्वेनसांग, पृ० १६८, ७१।

(४) राजत०—१, ३४६-६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिव-पूजा के अतिरिक्त मिहिरकुल के शासन-काल में सूर्य की भी पूजा प्रचलित थी। उसके ग्वालियर शिलालेख के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है। प्रारंभ में ही प्रशस्ति-कार ने सुंदर शब्दों में भगवान् सूर्य की प्रार्थना की है। उसके शब्द इस प्रकार हैं[1] —

सूर्य पूजा

जयति जलदबालध्वान्तमुत्सारयन् स्वैः
किरणनिवहजालैः व्योमविद्योतमद्भिः।
उदयगिरितटाग्रं मंडयन् यस्तुरङ्गैः
चकितगमनखेदभ्रांतचंचत्सटान्तैः॥
उदयगिरि———ग्रस्तचक्रोर्तिहर्त्ता
भुवनभवनदीपः शर्वरीनाशहेतुः।
तपितकनकवर्णैरंशुभिः पंकजानाम्
अभिनवरमणीयं यो विधत्ते स वोऽव्यात्॥

जो सूर्य अपनी किरणों से कमल को उगाता है, रात्रि का नाश करनेवाला तथा संसार को देदीप्यमान करनेवाला है, वह मेरी रक्षा करे। इस प्रकार प्रार्थना करते हुए पर्वत पर सूर्य भगवान् के प्रासाद (मंदिर) बनाने का वर्णन करता है। [कारितवान् शैलमयं भानोः प्रासादावरमुख्यम्] इस लेख से ज्ञात होता है कि मिहिर-कुल के राज्य-काल में यह मंदिर निर्मित हुआ तथा सूर्य की पूजा होने लगी थी।

विष्णु-पूजा

इन विवरणों से प्रकट होता है कि हूण शासक शैव होते हुए धार्मिक सहिष्णुता का भाव रखते थे। सूर्य-पूजा के साथ तोरमाण के अधीनस्थ मातृविष्णु वैष्णव-धर्मावलंबी थे[2]। एरण का लेख ही सर्वप्रथम विष्णु के अव-

(१) ग्वालियर का लेख।
(२) एरण का लेख।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तोर वाराह की मूर्ति पर खुदा है। लेख में वर्णन मिलता है कि मातृ-विष्णु ने वाराह भगवान् की मूर्ति अपने विषय (प्रदेश) में मंदिर में प्रतिष्ठापित करवाई थी। 'मातापित्रोः पुण्यप्यानार्थमेष भगवतो वराहमूर्तेः जगत्परायणस्य नारायणस्य शिलाप्रासादः स्वविषयेऽस्मिन् ऐरिकिणे कारितः'।

इन समस्त उद्धरणों तथा विवरणों से हूणों की शासन-अवधि में विभिन्न देवताओं की पूजा तथा मंदिर-स्थापना का ज्ञान होता है। यह उसी समय संभव है जब हूण नरेशों में धार्मिक सहिष्णुता का भाव भरा हो।

हूणों के धर्म के विषय में इतना और कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि इसी प्रसंग में हमारे पुराणों में भी इनके नाम उल्लिखित किए गए हैं। हूण अनार्य जाति के थे। उनके साथ संपर्क करने से आर्य लोग सदा डरते रहे। उनके संग से जाति-च्युत हो जाने—अशुद्ध हो जाने का भय सदा लगा रहा। परंतु भारत में कुछ दिनों के निवास के अनंतर हूण लोगों ने वैष्णव धर्म को अपना लिया; वे भी पतितपावन भगवान् की भक्ति करने लगे तथा भगवान् के नाम-स्मरण के मंगलमय कार्य का यह परिणाम हुआ कि वैष्णव-मत स्वीकार करनेवाली पुलिंद, खस आदि जातियों के समान हूण लोग भी शुद्ध हो गए। भगवान् की पुण्यमयी भक्ति का परिणाम ही ऐसा है। इस ऐतिहासिक घटना की सूचना श्रीमद्भागवत के निम्नलिखित प्रसिद्ध पद्य में दी गई है—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा:
आभीरकंका यवना खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रया:
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

—भागवत २। ५। १८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनीति में शासक के नाम से प्रचलित सिक्के से उसकी महत्ता प्रकट होती है। मुद्रा-शास्त्र से इतिहास-निर्माण की बात तो बतलाई जा चुकी है। राजा जब देश जीतता था तो विजित देश पर अपना सिक्का अवश्य चलाता था। हूणों ने भी अपने राज्य में सिक्के चलाए। परंतु हूण सिक्कों की कुछ ऐसी विलक्षणता है जो और कहीं नहीं पाई जाती। हूण-मुद्राओं में कोई स्वतंत्र भाव से नवीनता (Originality) नहीं पाई जाती। वे जहाँ जहाँ देशों को जीतते गए वहीं पर तत्स्थानीय सिक्कों के ढंग पर अपना सिक्का तैयार करते गए।

हूण सिक्के

हूण सरदार ने जब से ईरान को जीत लिया तब से उसने ससानियन प्रकार के सिक्के चलाए। काश्मीर विजय करने पर वहाँ के ढंग पर तथा मध्यभारत में राज्य स्थापित करने पर गुप्तों की तरह अपनी मुद्रा-शास्त्र की नीति का पालन हुआ। हूण मुद्रा-नीति का ज्ञान प्राप्त करने के लिये उपर्युक्त तीनों प्रकार के सिक्कों से परिचित होना आवश्यक है।

(१) ससानियन सिक्का—इन सिक्कों को ईरान के ससानियन राजाओं ने चलाया, अतः इसका यह नाम रक्खा गया। इनकी विशेषता यह है कि ये पतले चाँदी के टुकड़ों के होते थे जिनका आकार प्रायः गोल होता था। इन पर एक ओर (Obverse side) ईरानियन ढँग की पगड़ी (जिसे ससानियन पगड़ी भी कह सकते हैं) बाँधे राजा की मूर्ति बनी रहती है तथा पहलवी भाषा में कुछ लिखा रहता है। दूसरी ओर (Reverse side) अग्नि-कुंड (यज्ञ-वेदी) बना रहता है जिसके दोनों ओर दो रक्षक खड़े रहते हैं। [ईरान में अग्नि की पूजा होती थी। राजा अग्नि के पुजारी थे, अतएव अग्निकुंड बनता होगा।] ससानियन ढंग के सिक्के कहने से इसी प्रकार के मुद्राओं का बोध होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) काश्मीर के सिक्के—ये सिक्के मोटे, गोलाकार ताँबे के बनते थे। काश्मीर में इनका निर्माण होता था। एक ओर राजा की आकृति तथा लेख (legend) मिलता है। दूसरी ओर आर-देच्चो (लक्ष्मी) नामक देवी की मूर्ति रहती है। किस प्रकार या किस क्रम से ये विकसित हुए, उस कथा का वर्णन अप्रासंगिक होगा।

(३) मध्यभारत के गुप्त सिक्के—भारत में हूणों के आगमन से पूर्व भारत पर गुप्तों का राज्य था। उन्होंने सोने, चाँदी तथा ताँबे के अनेक प्रकार के सिक्के चलाए। चाँदी के सिक्के मुख्यतः दो प्रकार के थे। एक गुजरात तथा सौराष्ट्र में प्रचलित थे। वे 'गरुड़-टाइप' के नाम से पुकारे जाते थे। मध्यभारत में भी गुप्त चाँदी के सिक्के बनते थे परंतु ये 'पंखे के समान पूँछवाले मोर' (Fan-Tail Peacock type) के नाम से संबोधित होते थे। सिक्कों की बनावट देखने से ज्ञात हो जाता था कि ये सिक्के सौराष्ट्र के हैं या मध्यभारत के। तोरमाण ने वहाँ राज्य स्थापित कर उसी ढंग का मुद्रा निर्माण किया।

लेल्लिट

लखन उदयादित्य के सिक्के को कनिंघम लेल्लिट का बतलाता है। यह सिक्का काश्मीर में पाया जाता है।

हूणों ने सर्वप्रथम ईरान के मुद्रा का अनुकरणकर ससानियन ढंग के सिक्के बनाए। भारत में आने पर भी इस प्रकार के सिक्के बनते रहे, परंतु पहलवी के स्थान पर ब्राह्मी अक्षरों का समावेश होने लगा। शनैः शनैः ईरानियन लेख की जगह ब्राह्मी लेख (legend) ने प्रवेशकर स्थान ग्रहण कर लिया। तक्षशिला में सिक्कों की एक निधि (Hoard) मिली है जिनके अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है[1]।

(१) जे० ए० एस० बी० १९१३, पृ० ४८२, प्लेट १०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तोरमाण के तीन प्रकार के सिक्के मिलते हैं। पहला ससानियन ढंग का है। उस पर पहलवी भाषा में 'शाही जुवुल' लिखा मिलता है। कनिंघम ने इस प्रकार के अनेक सिक्कों का वर्णन किया है[1]। कुछ सिक्कों पर यह स्पष्ट पढ़ा नहीं जाता[2] तथा कुछ ग्रीक अक्षर दिखलाई पड़ते हैं[3]। दूसरों पर ब्राह्मी तथा ग्रीक अक्षर हैं। उन सिक्कों पर हिंदू चिह्न (शंख, चक्र आदि) भी दिखाई पड़ते हैं। इससे प्रकट होता है कि ब्राह्मी अक्षरों से प्रथम ही हिंदू चिह्न स्थान पा चुके थे। इसका कारण भारत का संबंध मालूम पड़ता है। ऐसी अवस्था में ये सिक्के हूणों के हैं या नहीं, यह प्रश्न उपस्थित होता है। विद्वानों ने समस्त हूण-सिक्कों का अध्ययनकर हूणों के एक चिह्न का पता लगाया है जिसे अँगरेजी में एफथलाइट सिंबाल (Ephathelite symbol) कहते हैं। इसी आधार पर एफथलाइट को हूणों का दूसरा नाम मानते हैं। शाही जुवुल के सिक्के पर भी यह चिह्न है। अतएव यह हूण-मुद्रा है। तोरमाण के साल्टरेंज के सिक्के में 'जुवुल' शब्द मिलता है। इसी कारण इस सिक्के को तोरमाण का बतलाया जाता है।

तोरमाण

दूसरा सिक्का भी ससानियन ढंग पर बना है। इसमें पहले से कुछ भिन्नता है। एक ओर घोड़े पर चढ़े राजा की मूर्ति है तथा शंख, चक्र व एफथलाइट चिह्न वर्तमान हैं। घोड़े की बाईं तरफ शाही जुवुल लिखा मिलता है। दूसरी ओर वही अग्निकुंड (यज्ञ-वेदी) तथा रक्षक हैं।

---

(१) लेटर-इंडो-सिथियन, प्लेट ७, नं० २—१३।
(२) वही, नं० २-५।
(३) ,, ,, ८-१०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तोरमाण का तीसरे प्रकार का सिक्का ही सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह मध्यभारत के गुप्तों के चाँदी के सिक्के के ढंग पर बना है। एक ओर राजा का सिर है तथा गुप्त-लिपि में तोरमाण के नाम के साथ प्राचीन ढंग पर लेख खुदा है। वह यों है—

'वजिता वनिरवनिपतिः श्री तोरमाण—'

दूसरी ओर 'पंखयुक्त मोर' की आकृति है। हूण-मुद्रा-शास्त्र में इस सिक्के की एक महान् विशेषता है। इसी में सबसे प्रथम तथा अंतिम बार तोरमाण का नाम मिलता है। इसके अतिरिक्त इस पर तिथि का भी उल्लेख मिलता है। विद्वानों ने इसे ५२ पढ़ा है[1]। इसके सिवा अन्य हूण-सिक्कों पर कहीं तिथि नहीं पाई जाती।

तोरमाण के लड़के मिहिरकुल ने भी चार प्रकार के सिक्के चलाए। सब के सब ताँबे के हैं। गुप्तों के तथा पिता के सदृश इसने चाँदी के मुद्रा का निर्माण नहीं किया। पहला ससानियन ढंग का है। एक ओर वैसी ही पगड़ी है तथा 'जयतु मिहिरकुल' लिखा है। दूसरी ओर अग्नि-कुंड (यज्ञ-वेदी) तथा रक्षक हैं। भारत में प्रचलित ससानियन ढंग के सिक्कों पर ईरानियन पगड़ी है परंतु दूसरी ओर गुप्त-सिक्कों के प्रभाव से दो भाग कर दिए जाते हैं। लेख नीचे की ओर तथा चिह्न ऊपर के स्थान में मिलते हैं[2]।

मिहिरकुल

दूसरे प्रकार का सिक्का छोटा है, परंतु ससानियन ढंग के साथ साथ कुछ नई बातों का समावेश भी पाया जाता है। एक

---

(१) जे० ए० एस० बी० १९०६, पृ० ८४७।

(२) कनिंघम—लेटर-इंडो-सिथियन प्लेट, ८, नं० ३-४, जे० ए० एस० बी० १९१३।

(३) कनिंघम—लेटर-इंडो-सिथियन, प्लेट ७, ९, ७। प्रिंसेप—प्लेट ३४, नं० १७-१८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओर 'श्री मिहिर' लिखा है। दूसरी ओर ऊपर वृषभ तथा नीचे 'जयतु वृष' लिखा रहता है[1]।

तीसरी तरह के सिक्के कुषाणों के अनुकरण पर बनाए गए थे। एक ओर राजा खड़ा है तथा 'शाही मिहिरकुल' लिखा है। दूसरी ओर लक्ष्मी (आरदोक्षो) की मूर्ति मिलती है[2]। इसे काश्मीर ढंग का भी सिक्का कह सकते हैं।

अंतिम प्रकार का मिहिरकुल का सिक्का बड़े आकार का होता है। एक ओर राजा घोड़े पर चढ़ा रहता है तथा उसके पीछे 'मिहिरकुल' अंकित रहता है। दूसरी ओर लक्ष्मी की मूर्ति मिलती है[3]।

खिंखिल का सिक्का ससानियन ढंग का है। एक ओर राजा का सिर, हिंदू-चिह्न (शंख, चक्र) तथा खिंखिल लिखा मिलता है। दूसरी ओर अग्नि-कुंड तथा रक्षक हैं[4]।

खिंखिल

मारवाड़ में सिक्कों की एक निधि मिली है जिसके सिक्के ससानियन राजा फिरोज की मुद्राओं से मिलते जुलते हैं[5]। उनकी बनावट उस राजा के सिक्कों के सम्मुख अशिष्ट है तथा पहलवी लेख भी उन पर नहीं हैं। इससे ज्ञात होता है कि ये सिक्के फीरोज के बाद के हैं जो उसके अनुकरण पर तैयार किए गए थे। विद्वानों का अनुमान है कि

कुछ अन्य सिक्के

---

(१) स्मिथ—इंडियन म्यूजियम कैटलाग, प्लेट २५-५।
(२) कनिंघम—लेटर-इंडो-सिथियन, प्लेट० ८, ९-१०।
(३) कनिंघम—मेडिविल इंडिया, प्लेट ८, १, ५, ७।
" ले० इ० सि० " ७-११।
(४) जे० ए० एस० बी० १८९७, प्ले० ९-१२-१३।
रैपसन—ऐंसेंट इंडिया, पृ० २९।
(५) जे० ए० एस० बी० १८९४ पृ० १८५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फीरोज के शत्रु हूणों ने ऐसा किया जिन्होंने फीरोज के नाम का उल्लेख नहीं किया। भगवानलाल इंद्रजी का मत है कि ये सिक्के ससानियन सिक्कों के बुरे अनुकरण के परिणाम हैं[1]। पीछे चलकर यही सिक्के 'गधिया' या 'गदहिया मुद्रा' कहलाए।

हूणों की तिथि

हूणों ने जितने प्रकार के सिक्के चलाए उनमें से एक ही में तिथि का उल्लेख मिलता है। मध्य भारत के चाँदी के सिक्कों पर तोरमाण के सिर के पीछे ५२ लिखा है। अन्य तिथि तोरमाण के प्रथम वर्ष तथा मिहिरकुल के पंद्रहवें वर्ष के लेख से मालूम पड़ती है। परंतु इन तिथियों के विषय में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि इनका संबंध किस संवत् से है। यदि लेख तथा सिक्के की तिथि किसी एक संवत् में लिखी है तो तोरमाण के प्रथम वर्ष तथा ५२ से क्या तात्पर्य समझा जायगा? यदि तोरमाण ने अपने राज्य-स्थापन से कोई संवत् चलाया (जो ज्ञात नहीं है) तो उसमें उसकी तिथि तथा उसके पुत्र मिहिरकुल की तिथि मिलनी चाहिए। परंतु मिहिर के ग्वालियरवाले लेख में उल्लिखित १५वें वर्ष से क्या तात्पर्य होगा जब तोरमाण ५२वें वर्ष में राज्य करता तथा सिक्का निकालता रहा? यदि मिहिरकुल की तिथि ५२ के बाद होती तो संभव था कि क्रम से काल-गणना प्रकट होती तथा उसका एक संवत् से संबंध होता। उस अवस्था में यह मानना समुचित होता कि हूणों ने किसी संवत् की अवश्य स्थापना की थी। परंतु ऐसा नहीं पाया जाता। अतएव हूणों की तिथियों का किसी संवत् से संबंध स्थिर नहीं किया जा सकता। एक विद्वान् का मत है कि हूण-

---

(१) जे० बी० बी० आर० ए० एस०, भा० १२, पृ० ३२५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरदार ने ई० स० ४४८ से 'हूण-संवत्' चलाया था,[1] परंतु यह निराधार तथा प्रमाण-रहित है।

हूणों का विवरण समाप्त करते हुए यह प्रश्न उपस्थित होता है कि हूणों के आगमन से भारत पर क्या प्रभाव पड़ा और कौन सा राजनीतिक परिवर्तन हुआ। हूण-लेख तथा राजतरंगिणी के वर्णन से उनके प्रताप, वीरता तथा सैन्य-कुशलता का ज्ञान हो जाता है। ऐसे शत्रु के आक्रमण का भारत के राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्रों में पर्याप्त प्रभाव दिखलाई पड़ता है। समस्त एशिया तथा योरप में गुप्त सम्राट् स्कंदगुप्त ही ऐसा प्रतापी योद्धा था जिसने हूणों पर विजय प्राप्त की[2]। इसकी मृत्यु के पश्चात् हूणों ने पुनः गुप्त-साम्राज्य पर चढ़ाई की जिसका प्रभाव स्थायी हो गया। इनके आक्रमण से गुप्त नरेश इतने दुर्बल हो गए थे कि उनका दिनोंदिन ह्रास ही होता गया। अतएव भारत की पाँचवीं शताब्दी के राजनीतिक क्षेत्र में हूणों का प्रबल हाथ रहा। गुप्त-साम्राज्य के नष्ट होने में इन्होंने भी सहायता पहुँचाई।

उपसंहार

सामाजिक क्षेत्र में भी हूणों के कारण प्रभाव पड़ा। राजतरंगिणी (तरंग १—३१४) में वर्णन मिलता है कि हूणों के दानग्राही ब्राह्मण नीच समझे जाने लगे। हूणों का शासन होने से जनता से उनका संपर्क बढ़ा। अंतिम समय में भारतीय समाज में हूणों का समावेश हो गया जिनका आज नामोनिशान भी नहीं है।

आर्थिक अवस्था की विकट दशा गुप्त-सम्राट् स्कंदगुप्त की मुद्राओं के अध्ययन से ज्ञात हो जाती है। यद्यपि स्कंद ने हूणों को परास्त

(१) जे० ए० एस० बी० १८९४, पृ० १९५।

(२) जायसवाल—इंपीरियल हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० ३६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया, परंतु उस युद्ध में गुप्त-नरेश के बल तथा अर्थ की इतनी हानि हुई कि कोष प्रायः रिक्त सा हो गया था। इसी लिये गुप्त-शासक ने अपनी मुद्रा-नीति में परिवर्तन किया। स्कंदगुप्त से प्रथम सोने के सिक्के दीनार के तौल (१२४ ग्रेन) पर बनते थे, परंतु विशुद्ध धातु के होते थे। हूण-आक्रमण से संभवतः अर्थ की कमी के कारण गुप्त-नरेश ने सुवर्ण तौल (१४८ ग्रेन) के बराबर सिक्के चलाए, जो मिश्रित धातु के बनने लगे थे। ताँबे के सिक्कों पर चाँदी का आवरण देकर उसे चाँदी की मुद्रा की तरह व्यवहार करने लगे। इन सब कारणों से प्रकट होता है कि संभवतः अर्थ की कमी से ऐसा किया गया होगा। इन समस्त विवरणों को ध्यान में रखकर यही कहा जा सकता है कि हूण-आक्रमण से पाँचवीं शताब्दी में अनेक महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़े।

प्रथम परिशिष्ट

राजतरंगिणी में हूणों का वर्णन

मिहिरकुल

हिरण्यकुल इत्यस्य हिरण्योत्सकृदात्मजः।
षष्टिं षष्टिं वसुकुलः तत्सूनुरभवत्समाः॥ तरंग १—२८८

अथ म्लेच्छगणाकीर्णे मण्डले चण्डचेष्टितः।
तस्यात्मजोभून्मिहिरकुलः कालोपमो नृपः॥
दक्षिणां सान्तकामाशां स्पर्धया जेतुमुद्यतः।
यन्मिषादुत्तरहरिद्भारान्यमिवान्तकम्॥
सान्निध्यं यस्य सैन्यान्तर्हन्यमानाशनोत्सुकान्।
अजानन्गृध्रकाकादीन्दृष्ट्वाग्रे धावतो जनाः॥
दिवारात्रं हतप्राणिसहस्रपरिवारितः।
योभूद्भूपालवेतालो विलासभवनेष्वपि॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बालेषु करुणा स्त्रीषु घृणा वृद्धेषु गौरवम् ।
न बभूव नृशंसस्य यस्य घोराकृतेरयं तः ॥
स जातु देवीं संवीतसिंहलांशुककञ्चुकाम् ।
हैमपादाङ्कितकुचां दृष्ट्वा जज्वाल मन्युना ॥
सिंहलेषु नरेन्द्रांघ्रिमुद्रांकः क्रियते पटः ।
इति कञ्चुकिना पृष्टेनोक्तो यात्रामदात्ततः ॥
तत्सेनाकुम्भिदानाम्भोनिम्नगाकृतसङ्गमः ।
यमुनालिङ्गनप्रीतिं प्रपेदे दक्षिणार्णवः ॥
स सिंहलेन्द्रेण समं संरम्भादुदपाटयत् ।
चिरेण चरणस्पृष्टप्रियालोकनजां रुषम् ॥
दूरात्तत्सैन्यमालोक्य लङ्कासौधैर्निशाचराः ।
भूयोपि राघवोद्योगमाशङ्क्य प्रचकम्पिरे ॥ १—२९८
स तत्रान्यं नृपं दत्त्वा तीव्रशक्तिरुपाहरत् ।
पटं यमुषदेवाख्यं मार्तण्डप्रतिमाङ्कितम् ॥ १ ॥ २९९
व्यावृत्तचोलकर्णाटलाटार्दांश्च नरेश्वरान् ।
सिन्धुरानिव गन्धेभो गन्धेनैव व्यदारयत् ॥
तस्मिन्प्रयाते प्राप्तेभ्यः शशंसुस्तत्पराभवम् ।
नगर्यो नरनाथेभ्यः त्रुट्यद्दट्टालमेखलाः ॥
काश्मीरं द्वारमासाद्य श्वभ्रभ्रष्टस्य दन्तिनः ।
श्रुत्वा स त्रासजं घोषं तोषरोमाञ्चितोभवत् ॥
तदाकर्णनसंरम्भे सहर्षोथ विरुद्धधीः ।
शतमन्यद्गजेन्द्राणां हठेन निरलोठयत् ॥
स्पर्शोङ्गानि यथा वाचं कीर्तनं पापिनां तथा ।
संदूषयेदतो नोक्ता तस्यान्यापि नृशंसता ॥
को वेत्त्यद्भुतचेष्टानां कृत्यं प्राक्तनचेतसाम् ।
धर्मं सुकृतसंप्राप्तिहेतोः सोपि यदाद्दे ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीनगर्यां हि दुर्बुद्धिर्विदधे मिहिरेश्वरम् ।
होलाडायां स मिहिरपुराख्यं पृथुपत्तनम् ॥
अग्रहाराञ्जगृहिरे गान्धारा ब्राह्मणास्ततः ।
समानशीलास्तस्यैव ध्रुवं तेपि द्विजाधमाः ॥
सेवागमः फणिभुजं प्रथितान्धकारः
प्रीणाति हंसममलो जलदात्ययश्च ।
प्रीतेः समानरुचितैव भवेन्नितान्तं
दातुः प्रतिग्रहकृतश्च परस्परस्य ॥
स वर्षसप्ततिं भुक्त्वा भुवं भूलोकभैरवः ।
भूरिरोगार्दितवपुः प्राविशज्जातवेदसम् ॥ १—३०९
सोयं त्रिकोटिहा मुक्तो यः स्वात्मन्यपि निर्घृणः ।
देहत्यागेऽस्य गगनादुच्चचारेति भारती ॥ १—३१०
इत्यूचुर्ये मते तेषां स एव परिहारदः ।
खण्डयन्वीतघृणतामग्रहारादिकर्मभिः ॥
आक्रांते दारदैः भौट्टैर्म्लेच्छैरशुचिकर्मभिः ।
विनष्टधर्मे देशेस्मिन्पुण्याचारप्रवर्तनम् ॥
आर्यदेश्यान्स संस्थाप्य व्यतनोद्दारुणं तपः ।
संकल्प्य स्ववपुर्दाहं प्रायश्चित्तक्रियां व्यधात् ॥
अत एवाग्रहाराणां सहस्रं प्रत्यपादयत् ।
गान्धारदेशजातेभ्यो द्विजेभ्यो विजयेश्वरे ॥
क्षुरखड्गासिधेन्वादिपूर्णेयःफलके तदा ।
वह्नौ प्रदीप्ते सहसा पर्यन्ते स्वां तनुं जहौ ॥
इत्येतस्मिञ्जनाम्नाये केचिदव्यभिचारिणि ।
प्राहुः पुरुषसिंहस्य क्रौर्यं तस्याविगर्हितम् ॥ १—३१६
सूनुर्नरेन्द्रादित्योस्य खिङ्खिलान्याभिधोभवत् । खिंगिल
भूतेश्वरप्रतिष्ठानामत्तयिण्याश्च कारकः ॥ १—३४७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिव्यानुग्रहभागुग्राभिधो यस्य गुरुर्व्यधात् ।
उग्रेशमातृचक्रं च प्रभावोद्ग्रविग्रहः ॥
भूत्वा षट्त्रिंशतं वर्षाऽशतं चाह्नां विभुर्भुवः ।
स दीर्घैरनघाल्लोकानासदत्सुकृतैः कृती ॥ १—३४-६

तोरमाण

बालाहतानां प्राचुर्यं विनिवार्यासमञ्जसम् ।
तोरमाणेन दीनाराः स्वाहताः संप्रवर्तिताः ॥
मामवज्ञाय राज्ञेव कस्मादेतेन लिंगितम् ।
इति तं पूर्वजो राजा क्रोधनो बन्धने व्यधात् ॥
उत्पिञ्जोत्पादनात् सज्जे तस्मिन्भ्रात्रा यदृच्छया ।
बन्धात्त्यक्तो नृतरणिस्तोरमाणस्तमाययौ ॥

३—१०३-४, १२२

लखन-नरेंद्रादित्य

पद्मावत्यां सुतस्तस्य नरेन्द्रादित्य इत्यभूत् ।
लःखणापरनामा यो नरेंद्रस्वामिनं व्यधात् ॥

३—३८३

राजतरंगिणी में कल्हण ने उपर्युक्त वर्णन प्रथम तथा तृतीय तरंग में दिया है। इन चारों के नाम के साथ साथ अन्य कई राजाओं का वर्णन मिलता है, परंतु लेखों तथा सिक्कों से जिनकी ऐतिहासिकता स्थिर की गई है उन्हीं का वर्णन दिया जाता है। राजतरंगिणी के उपर्युक्त वर्णन तथा प्रस्तुत लेख में वर्णित हूण राजाओं के विवरण में बहुत भिन्नता दिखलाई पड़ती है। कल्हण ने मिहिरकुल को वसुकुल का लड़का बतलाया है (१—२८८) तथा तोरमाण के पुत्र का नाम प्रवरसेन मिलता है (३—१०६)। परंतु यदि ग्वालियर के लेख पर ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि तोरमाण का पुत्र तथा उत्तराधिकारी मिहिरकुल ही था। (फ्लीट—गु० ले०, नं० ३७)

टिप्पणी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजतरंगिणी में प्रथम मिहिरकुल, तत्पश्चात् तोरमाण का वर्णन मिलता है। इस कारण दोनों की तिथि में सात सौ वर्ष का अंतर पड़ जाता है। सबसे संदेहपूर्ण बात मिहिरकुल द्वारा सिंहल पर आक्रमण का वर्णन है। लेखों तथा सिक्कों के आधार पर मिहिरकुल का मध्यभारत से दक्षिण ओर राज्य-विस्तार ज्ञात नहीं है। सिंहल पर चढ़ाई करना तो सर्वथा निराधार प्रतीत होता है। इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि खिंखिल के सिक्के ईसा की पाँचवीं शताब्दी के हैं। यदि यह तथा राजतरंगिणी का खिंखिल नरेंद्रादित्य एक व्यक्ति मान लिए जायँ (जैसा ऐतिहासिकों का विश्वास है) तो दोनों की तिथियों में कई सौ वर्षों का अंतर पड़ता है। इन्हीं सब कारणों से राजतरंगिणी में वर्णित हूण-विवरण को अक्षरशः ठीक नहीं मान सकते।

द्वितीय परिशिष्ट

राजतरंगिणी के आधार पर मिहिरकुल का चरित्र

कल्हण ने राजतरंगिणी में मिहिरकुल के चरित्र को अत्यंत भयानक शब्दों में चित्रित किया है। काश्मीर की परंपरा में वह वीर के साथ साथ बहुत निर्दय तथा कठोर बतलाया जाता है। यही नहीं, वह काल के समान—'मिहिरकुलः कालोपमो नृपः'—उल्लिखित है। कल्हण ने हूण राजा मिहिर की वेताल से समानता दिखलाई है। वह दिनरात हजारों मृत प्राणियों से घिरा रहता है। आमोद-प्रमोद के स्थान में भी उसकी वही अवस्था रहती है—

'दिवारात्रं हतप्राणिसहस्रपरिवारतः।
योभूद्भूपालवेतालो विलासभवनेष्वपि॥'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे ज्ञात होता है कि मिहिरकुल ने असंख्य नर-नारियों को युद्ध में मरवा डाला। उसके हृदय में दया का तो नाम तक न था। वह छोटे छोटे बालकों पर भी अत्याचार करता, स्त्रियों पर तनिक भी करुणा नहीं दिखलाता तथा वृद्धों के प्रति आदर कभी नहीं प्रदर्शित करता था—'बालेषु करुणा स्त्रीषु घृणा वृद्धेषु गौरवम्'। संभव है कि राज्य को चिरस्थायी बनाने के लिये उसने ऐसा किया हो। इतना कठोर हृदय तथा अत्याचारी होते हुए उसने गांधार के ब्राह्मणों को अग्रहार दान दिया था; परंतु वे ब्राह्मण निम्न श्रेणी के समझे जाते थे (१—३०७)। ऐसे अत्याचारी दुष्ट का अंतिम समय दुःख के साथ व्यतीत हुआ तथा वह स्वयं आग में जल मरा (१—३०९)।

तृतीय परिशिष्ट

तोरमाण का वाराहमूर्ति का लेख

ओं।

जयति धरण्युद्धरणे घनघोराघातघूर्णितमहीध्रः।
देवो वराहमूर्तिः त्रैलोक्यमहागृहस्तम्भः॥ १॥
वर्षे प्रथमे पृथिवीं पृथुकीर्तौ पृथुद्युतौ।
महाराजाधिराजश्रीतोरमाणे प्रशासति॥
फाल्गुनदिवसे दशमे इत्येवं राज्यवर्षमासदिनैः।
एतस्यां पूर्वायां स्वलक्षणैः युक्तपूर्वायां तिथौ॥ २॥
स्वकर्मभिरतस्य क्रतुयाजिनोऽधीतस्वाध्यायस्य विप्रर्षेर्मैत्रायणीयविषयस्येन्द्रविष्णोः पौत्रस्य पितुर्गुणानुकारिणो वरुणविष्णोः पौत्रस्य पितरमनुजातस्य स्ववंशवृद्धिहेतोः हरिविष्णोः पुत्रस्यात्यन्तभगवद्भक्तस्य विधातुरिच्छया स्वयंवरयेव राजलक्ष्म्याधिगतस्य चतुस्समुद्रपर्य्यन्तप्रथितयशसः अक्षीणमानधनस्यानेकशत्रुसमरजिष्णोः महाराज-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मातृविष्णोः स्वर्गतस्य भ्रात्रानुजेन तदनुविधायिना तत्प्रसादपरिगृहीतेन धन्यविष्णुना तेनैव सहाविभक्तपुण्यक्रियेण मातापित्रोः पुण्याप्यायनार्थमेष भगवतो वराहमूर्तेर्जगत्परायणस्य नारायणस्य शिलाप्रसादः स्वविषयेऽस्मिन्नैरिकिणे कारितः।

स्वस्त्यस्तु गोब्राह्मणपुरोगाभ्यः सर्वप्रजाभ्य। इति।

(फ्लीट—गु० ले०, नं० ३६)

चतुर्थ परिशिष्ट

मिहिरकुल का ग्वालियर शिलालेख

ओम्।

जयति जलदबालध्वान्तमुत्सारयन् स्वैः
किरणनिवहजालैः व्योम विद्योतयद्भिः।
उदयगिरितटाग्रं मण्डयन् यस्तुरङ्गैः
चकितगमनखेदभ्रान्तचंचत्सटान्तैः॥ १॥

उदयगिरि[...]ग्रस्तचक्रोर्तिहर्ता
भुवनभवनदीपः शर्वरीनाशहेतुः।
तपितकनकवर्णैरंशुभिः पङ्कजानाम्
अभिनवरमणीयं यो विधत्ते स वोव्यात् ॥२॥

श्री तोरमाण इति यः प्रथितो भूचक्रपः प्रभूतगुणः।
सत्यप्रधानशौर्य्याद्येन मही न्यायतः शास्ता॥ ३॥
तस्योदितकुलकीर्तेः पुत्रोतुलविक्रमः पतिः पृथिव्याः।
मिहिरकुलेतिख्यातो भृङ्गोयः पशुपतिं [...] ॥ ४॥
तस्मिन् राजनि शासति पृथिवीं पृथुविमललोचनेर्तिहरे।
अभिवर्धमानराज्ये पञ्चदशाब्दे नृपवृषस्य॥ ५॥
शशिरश्मिहासविकसितकुमुदोत्पलगन्धशीतलमोदे।
कार्तिकमासे प्राप्ते गगनपटौ निर्म्मले भाति॥ ६॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्विजगणमुख्यैरभिसंस्तुते च पुण्याहनादघोषेण ।
तिथिनक्षत्रमुहूर्ते संप्राप्ते सुप्रशस्तदिने ॥ ७ ॥
मातृतुलस्य तु पौत्रः पुत्रश्च तथैव मातृदासस्य ।
नाम्ना च मातृचेतः पर्वत.....वास्तव्यः ॥ ८ ॥
नानाधातुविचित्रे गोपाह्वयनाम्नि भूधरे रम्ये ।
कारितवान् शैलमयं भानोः प्रासादवरमुख्यम् ॥ ९ ॥
पुण्याभिवृद्धिहेतोः मातापित्रोस्तथात्मनश्चैव ।
वसतां च गिरिवरेऽस्मिन् राज्ञः ... पादेन ॥ १० ॥
ये कारयन्ति भानोश्चन्द्रांशुसमं प्रभागृहप्रवरम् ।
तेषां वासः स्वर्गे यावत्कल्पक्षयो भवति ॥ ११ ॥
भक्त्या रवेर्विरचितं सद्धर्म्मख्यापनं सुकीर्तिमयम् ।
नाम्ना च केशवेति प्रथितेन च ... दित्येन ॥ १२ ॥
यावच्छर्वजटाकलापगहने विद्योतते चन्द्रमा
दिव्यस्त्रीचरणैः विभूषिततटो यावच्च मेरुर्नगः ।
यावच्चोरसि नीलनीरदनिभे विष्णुर्विभर्त्युज्ज्वलाम्
श्रीं तावद् गिरिमूर्ध्नि तिष्ठतु शिलाप्रासादमुख्योऽरमे ॥१३॥
(फ्लीट—गु० ले०, नं० ३७)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४) कुशानकालीन भारत

[लेखक—श्री वृंदावनदास, बी० ए०, एल्-एल० बी०, मथुरा]

प्राचीन भारत के इतिहास की जानकारी के पाँच प्रधान साधन हैं। महत्त्व की दृष्टि से उनका क्रम इस प्रकार होगा—(१) शिलालेख, (२) मुद्राएँ, (३) शिल्प-कला, (४) प्राचीन साहित्य, (५) विदेशियों के लेख। धर्मों एवं सभ्यताओं की अनेकता के कारण प्राचीन साहित्य पक्षपातपूर्ण एवं अतिरंजित है। अपने धर्म का उत्कर्ष दिखाने में लेखकों ने दूसरे धर्मवालों की वास्तविक श्रेष्ठता को छिपाया है, अतः सत्य एक विशाल आडंबर के भीतर छिपा हुआ मिलता है। सत्यासत्य का निर्णय शिलालेखों और मुद्राओं से ही हुआ है। इसी कारण शिलालेख और मुद्राएँ प्राचीन भारत की सबसे अधिक विश्वसनीय साक्षी हैं।

कुशान लोग यूह-ची (yuch-chi) समूह में से थे जो पश्चिमी चीन की आवारा जातियों के समूहों में से एक था। इन लोगों ने अपना निर्यात ईसा से पूर्व १७४ से १६० के बीच में प्रारंभ कर दिया। एक शताब्दी बाद इन्होंने अपनी आवारा आदतें छोड़ दीं। इन लोगों के आगमन के समय बैक्ट्रिया (वाह्लीक) में डैमेट्रियस और मेनांडर बड़े शक्तिशाली राजा थे। इन्होंने समस्त अफगानिस्तान, पंजाब और पश्चिमी भारत पर कब्जा कर लिया था। इनके बाद बैक्ट्रियन राज्य का अंत हो गया और मिथ्रिडेट्स प्रथम के बाद पार्थिया (पह्लव) के राजाओं का अंत हो गया। इनके पतन से ही कुशान-काल आरंभ होता है।

कुशान गौरवर्ण, ऊँचे तथा मजबूत लोग थे। कदाचित् वे तुर्क जाति में से थे। ये लोग ईरानी अथवा परशियन आर्यों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सदृश थे। परंतु हिंदुओं ने दर्रों के बाहर से आए हुए सब लोगों को शकों के नाम से ही पुकारा। कुशानों ने सन् ४० ईसवी के लगभग कुजुल-कर-कैडफाइसिस के आधिपत्य में समस्त बैक्ट्रिया पर अधिकार जमाया और उसी समय से कुशान-वंश की स्थापना हुई।

कैडफाइसिस प्रथम

ऐतिहासिकों ने कुजुल-कर-कैडफाइसिस को कैडफाइसिस प्रथम कहा है। कैडफाइसिस प्रथम ने दीर्घ आयु प्राप्त की और बहुत वर्षों तक राज्य किया। बैक्ट्रिया (वाह्लीक) को उसने अपने बढ़ते हुए दल के लिये बहुत छोटा पाया। उसने बहुत शीघ्र काबुल प्रांत पर अपना अधिकार जमा लिया और सन् ४८ ईसवी में गांधार और सिंधु नदी के पूर्व तक्षशिला को अपने वश में कर लिया। कैडफाइसिस प्रथम की मृत्यु ८० वर्ष की अवस्था में सन् ७७ अथवा ७८ ई० में हुई। उसके ३८ वर्ष के राज्य-काल में भारतवर्ष की सीमा पर स्थित इंडोग्रीक, इंडोपार्थियन और शक राज्यों का अंत हो गया और कुशान-राज्य की जड़ जम गई।

कैडफाइसिस द्वितीय

कैडफाइसिस प्रथम के पश्चात् सन् ७८ ई० में वीमा कैडफाइसिस राज्य-सिंहासन पर बैठा। यूनानी मुद्राओं में इसको वेम कैडफाइसिस लिखा है। ऐसा ज्ञात होता है कि शक संवत् सन् ७८ ई० से, इसके राज्यारोहण से, आरंभ हुआ। वेम कैडफाइसिस अर्थात् कैडफाइसिस द्वितीय के राज्य की विशालता दूर-दूर पर उसके राज्य के सिक्कों के पाए जाने से प्रकट होती है। उसके राज्य में सिक्के बहुत दूर और बड़ी अधिक संख्या में प्रचलित थे। उसने सिंधु प्रदेश और गंगा की तरहटी में भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। उसका साम्राज्य दक्षिण में नर्मदा तक फैला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ था। मालवा और पश्चिमी भारत के राजाओं ने उसको अपना अधिपति स्वीकार कर लिया था। इसकी विजयों के कारण विदिशा (भिलसा) के नाग राजा पुरिका (होशंगाबाद) और नंदिवर्द्धन (नागपुर) की ओर हट गए। वहाँ जाकर उन्होंने जंगलों में अपनी राजधानी बनाई। सन् ९० ई० में कैडफाइसिस द्वितीय ने चीन के सम्राट् से उसकी कन्या माँगी। इस प्रस्ताव से चीन के सम्राट् ने अपना अपमान समझा और सेनापति पाँचू ने भारतीय राजदूत को कारागार में डाल दिया। इस पर कुशान सम्राट् ने ७०००० सैनिकों के साथ अपने प्रतिनिधि सी को चीन से लड़ने के लिये भेजा। इस विशाल सेना को मार्ग में बड़ी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं। कई दर्रों को बड़ी कठिनता के साथ पार करने के कारण कुशान सेना बिल्कुल थक गई थी और ऐसी स्थिति में उसको हरा देना चीन के लिये कोई कठिन बात न हुई। कैडफाइसिस द्वितीय को चीन का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा।

सन् ११० ई० के लगभग कैडफाइसिस द्वितीय की मृत्यु हो गई। इसने लगभग ३० वर्ष राज्य किया। कैडफाइसिस द्वितीय ने अपने विभिन्न प्रांतों में शासन करने के हेतु सेनापतियों को नियुक्त कर दिया था। ऐसा विदित होता है कि सन् ११० ई० से १२० ई० तक इन्हीं शासकों ने राज्य की बागडोर अपने हाथ में रखी। सन् १२० ई० में कनिष्क सिंहासन पर बैठा। वह कैडफाइसिस द्वितीय का पुत्र नहीं था वरन् यूह-ची दल की किसी छोटी जाति से उत्पन्न था।

कनिष्क

कनिष्क के सिंहासनारूढ़ होने की निश्चित तिथि ज्ञात नहीं हो सकी है, अनुमानतः सन् १२० ई० ही सत्य प्रतीत होती है। कैडफाइसिस द्वितीय की चीन की पराजय का बदला कनिष्क ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ले लिया और खोटान, यारकंद, काशगर आदि देशों को जीत लिया। कनिष्क के विशाल साम्राज्य की दो राजधानियाँ थीं। उत्तर-पश्चिमी भारत की राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) थी तथा भारतीय प्रांतों की राजधानी मथुरा थी। सुदूर देशों में युद्धों में संलग्न रहने के कारण कनिष्क ने भारतीय प्रांतों में अपने पुत्र वासिष्क और हुविष्क को छोड़ दिया था। हुविष्क की मुद्राएँ अधिक संख्या में पाई जाती हैं। यह भी प्रतीत होता है कि हुविष्क ने कनिष्क के राज्य-काल में ही अपनी मुद्राओं का प्रचार किया। कनिष्क के समय में बौद्ध-धर्म की बड़ी उन्नति हुई। इस कारण उसे द्वितीय अशोक भी कहा गया है। कुशानकाल से पूर्व प्रचलित बौद्ध धर्म को 'हीनयान' की संज्ञा दी गई। कुशान-काल में बौद्ध धर्म का एक संस्कृत रूप जनता के सम्मुख आया; भगवान् की प्रतिमाकार देखने की लालसा भक्तों में तीव्र हो उठी। चिह्नों[1] की पूजा की जगह बोधिसत्त्व[2] और बुद्धों की पूजा होने लगी। इस परिवर्तन के कारण बोधिसत्त्व और बुद्ध की असंख्य मूर्तियाँ बन गईं जिन्होंने कुशानकालीन कला को एक स्थायी महत्त्व प्रदान किया। धर्म के इस परिवर्तन का नाम 'महा-यान' पड़ा।

कनिष्क बौद्ध था, परंतु फिर भी उसके समय की मुद्राओं पर द्विबाहु और चतुर्भुज शिव की आकृति बनी हुई थी। कनिष्क के समय में धार्मिक सहिष्णुता के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। कनिष्क

---

(१) प्रधान चिह्न जिनकी पूजा होती थी वे ये थे—१–धर्मचक्र, २–बोधिवृक्ष, ३–स्तूप, ४–बुद्ध का उष्णीष, ५–बुद्ध का भिक्षा-पात्र।

(२) बोधिसत्त्व और बुद्ध में भेद है। 'संबोधि' प्राप्त करने के पूर्व बुद्ध को बोधिसत्त्व कहते थे। संबोधि प्राप्त करने के उपरांत गौतम की संज्ञा परमार्हत 'बुद्ध' हुई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने कुंडलवन मठ में अनेकधर्मावलंबी विद्वानों की एक सभा कराई जिसमें बहुत शास्त्रार्थ हुआ। इस सभा में बौद्धों के रीति-रिवाजों पर भी यथेष्ट विवाद हुआ और सभा के निश्चित किए हुए विषयों को ताम्रपत्रों पर खुदवाया गया। वे ताम्रपत्र एक स्तूप में रखवा दिए गए थे। संभव है, किसी समय पुरातत्त्व-विभाग को उन्हें ढूँढ़ निकालने में सफलता मिले। कैडफाइसिस द्वितीय की मुद्राओं पर शिव और उनके नंदी की आकृति अंकित थी। अंतिम कुशान-सम्राट् 'वासुदेव' के नाम से स्पष्ट है कि कुशानों पर हिंदू-धर्म का प्रभाव प्रबल रूप से पड़ चुका था। वस्तुतः कैडफाइसिस द्वितीय के शैव, कनिष्क के सर्वधर्म-पोषक और वासुदेव के वैष्णव होने के प्रमाण मिले हैं। यों तो कुशानकाल में हिंदू, जैन और बौद्ध तीनों धर्मों का ही अभ्युत्थान हुआ परंतु फिर भी एक विषय उल्लेखनीय है। यूनानी सभ्यता एवं संस्कृति का जितना प्रभाव बौद्ध धर्म पर पड़ा उतना किसी दूसरे धर्म पर नहीं पड़ा। वस्तुतः जैन और हिंदू-धर्म अपरिवर्तित रहे। इतिहास इस बात का साक्षी है कि हिंदू राजाओं एवं प्रजा पर यूनानी सभ्यता एवं संस्कृति का इतना प्रभाव नहीं पड़ा जितना यूनानी राजाओं और विदेशियों पर हिंदू-धर्म और सभ्यता का पड़ा।

राजाओं की रहन-सहन

कनिष्क के बाद राज्य-सिंहासन पर हुविष्क बैठा। यह लगभग १६२ ई० में कुशान-साम्राज्य का अधिपति हुआ। यहाँ पर कुशान-राजाओं की चाल-ढाल का भी कुछ उल्लेख करना असंगत न होगा। यूह-ची वंश के राजा छोटी छोटी आँखोंवाले मंगोलियनों से समता नहीं रखते थे। वे लंबे-चौड़े सुदृढ़ और गुलाबी रंग के चेहरेवाले मजबूत आदमी थे। संभवतः ये लोग तुर्कों के वंशधर हैं। वे लंबे, नीचे कोट पहनते थे, मुलायम चमड़े के जूते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहनते थे और यूरोपियन फैशन के अनुसार कुर्सियों पर बैठते थे। मथुरा के म्यूजियम में दो कुशान-सम्राटों की विशाल मूर्तियाँ हैं। उनमें से एक पर "महाराज राजातिराज देवपुत्र कुशाणपुत्र शाही वाम तक्षम" खुदा है जिससे स्पष्ट है कि यह मूर्ति कनिष्क के पूर्ववर्ती सम्राट वीमा की है जो कि कैडफाइसिस प्रथम का पुत्र था। मथुरा म्यूजियम की दूसरी मूर्ति पर ये शब्द अंकित हैं—"महाराज राजातिराज देवपुत्र कनिष्क"। ये शब्द ब्राह्मी अक्षरों में खुदे हुए हैं। वीमा कैडफाइसिस और कनिष्क दोनों की ये मूर्तियाँ बहुत भव्य हैं।

साहित्य और कला

कनिष्क के काल में तीन प्रधान कलाविद् हुए—(१) नागार्जुन, (२) अश्वघोष और (३) वसुमित्र। अश्वघोष कवि, संगीतज्ञ, विद्वान् एवं प्रगाढ़ बौद्ध दार्शनिक था। चरक, जिसने चरक-संहिता शीर्षक बड़ा उत्तम वैद्यक ग्रंथ लिखा था, कनिष्क का राजवैद्य था। शिल्पकला को कनिष्क द्वारा भारी प्रोत्साहन मिला। निर्माण-कार्य में वह अशोक की भाँति था। कुशान-कालीन उत्तर भारत की कला 'गांधार कला' के नाम से विख्यात है। यह कला यूनानी और बौद्ध कलाओं का सम्मिश्रण है। गांधार कला का जन्म पहली शताब्दी (ईसा के बाद) में हुआ। कनिष्क और हुविष्क के काल में, (ईसा के बाद) द्वितीय शताब्दी में, इस कला की बहुत उन्नति हुई। कला की दृष्टि से कुशान-काल बहुत महत्त्वपूर्ण है। यों तो कुशानकाल में हिंदू, जैन और बौद्ध तीनों कलाओं का ही खूब विकास हुआ परंतु बुद्ध-कला के लिये यह काल स्वर्णयुग था। कैडफाइसिस द्वितीय और कनिष्क के समय में बौद्ध-कला की अत्यधिक उन्नति हुई। कुशान-साम्राज्य के पूर्व भारतवर्ष में बुद्ध-धर्म का 'हीनयान' संप्रदाय प्रचलित था। उस समय चिह्नों की पूजा होती थी जैसे धर्मचक्र-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवर्तन, स्तूप, बोधिवृक्ष, बुद्ध का उष्णीष और बुद्ध का भिक्षापात्र आदि। परंतु बाद में अश्वघोष, नागार्जुन आदि के सतत प्रयत्न से बुद्ध को योगीश्वर अथवा भगवान् के रूप में प्रतिमाकार देखने की रुचि लोगों में हुई। इस संप्रदाय का नाम 'महायान' पड़ा। पश्चिमी लेखकों का मत है कि बुद्ध की मूर्ति सबसे पहले गांधार में बनी। परंतु मथुरा तथा उसके आसपास के प्रांतों में यक्ष आदि की बहुत सी पाषाण-मूर्तियाँ निकली हैं जो मौर्य-शुंग-काल की अनुमानित की जाती हैं। मौर्य-शुंग-काल की कुछ मिट्टी की मूर्तियाँ भी मिली हैं जिनसे स्पष्ट है कि मूर्ति बनाने की विद्या मथुरा को गांधार से सीखने की आवश्यकता न थी। कुछ आधुनिक विद्वानों ने यह सिद्ध कर दिया है कि बुद्ध की सबसे पहली मूर्ति मथुरा में ही बनी होगी। वस्तुतः मथुरा-कला की प्राचीनता यह प्रमाणित करती है कि उसको गांधार-कला का नेतृत्व ग्रहण करने की कोई आवश्यकता न थी। परंतु समस्त उत्तरी, पश्चिमी और पूर्वी भारत के एक ही साम्राज्य के अंतर्गत होने के कारण गांधार-कला और मथुरा-कला दोनों एक दूसरी से प्रभावित हुईं, यह निर्विवाद है।

कुशानकालीन बुद्ध और बोधिसत्त्वों की मूर्तियाँ बड़ी भव्य बनती थीं। उन पर किशोरावस्था का सा भाव रहता था। कुशान-काल की मूर्तियाँ कोरकर बनाई गई थीं। उनमें पीठ की तरफ अवलंब नहीं होता था इससे उनका दर्शन चारों ओर से किया जा सकता था।

कला में बुद्ध और बोधिसत्त्वों का भेद बड़ा ही मनोहर है। बोधिसत्त्वों को राजसी ठाठ में आभूषणों सहित बनाया जाता था। गांधार-कला में आभूषणों का बाहुल्य था। मथुरा-कला के बुद्ध योगी हैं। इस कला में बुद्ध की मूर्ति तीन मुद्राओं में पाई जाती है। वे इस प्रकार हैं—(१) ध्यानमुद्रा—जिसमें पद्मासन लगाए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुद्ध विराजते हैं। (२) अभय-मुद्रा—यह मुद्रा बहुत प्रचलित थी। कुशान-काल की मथुरा-कला में बुद्ध की लगभग सभी मूर्तियाँ इस मुद्रा में मिलती हैं। गुप्त-काल में तो बुद्ध की सभी मूर्तियाँ अभय-मुद्रा में बनी थीं। इसमें बुद्ध अपना दाहना हाथ ऊँचा उठाकर दर्शकों की ओर हथेली दिखाते हैं, मानो उनको अभय प्रदान कर रहे हों। (३) भूमि-स्पर्श मुद्रा—यह मुद्रा भी मथुरा-कला में पाई जाती है। गांधार-कला में बुद्ध की बहुत सी मुद्राएँ पाई जाती हैं। परंतु मथुरा-कला में उपर्युक्त तीन मुद्राएँ ही मिलती हैं। मथुरा-कला गांधार-कला और सारनाथ-कला दोनों से प्राचीन है। कुशान-कालीन अमरावती की कला भी उत्कृष्ट है। वास्तव में कुशान-काल में सर्वत्र कला का कौशल ही दृष्टिगोचर होता है। इससे बिल्कुल स्पष्ट है कि समस्त भारतवर्ष कुशान-काल में अतीव सुख-समृद्धि का अनुभव कर रहा था।

मुद्राएँ (सिक्के)

भारतवर्ष में सिक्के वही पुराने ढंग के (punch-marked) थे। जिस प्रकार के सिक्के पहले से चले आ रहे थे, कुशान-काल में वैसे ही सिक्के चलते रहे। तात्पर्य यह कि सिक्कों की बनावट में कोई परिवर्तन न हुआ। जिस प्रकार भारतीय कला में ईरान और यूनान की संस्कृतियों के कारण विशद परिवर्तन हुए और इस त्रिधारा के मिलने से एक अपूर्व छटा का प्रादुर्भाव हुआ, उस प्रकार मुद्राओं की भारतीय शैली में विशेष अंतर नहीं हुआ। कुशान-काल के लेख तथा मुद्राएँ ब्राह्मी लिपि में मिली हैं। ब्राह्मी लिपि को ही आज हम नागरी अथवा देव-नागरी लिपि के रूप में देखते हैं। शक, पार्थियन और यूनानी शैलियों का अनुकरण करके मुद्राएँ उभार (die) करके बनाई जाने लगीं। परंतु भारतीय शैली में विदेशी मुद्राओं की सी सफाई फिर भी न आई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुशान-सम्राटों का रोमन साम्राज्य से व्यावसायिक संबंध था। इसलिये कैडफाइसिस प्रथम के काल में मुद्राओं पर सम्राट् के सिर की छाप रोमन सिक्कों के सदृश थी। कुशान-साम्राज्य में भारत का विदेशों से व्यापार बहुत ही अधिक था। इसी कारण यहाँ विदेशी—प्रधानत: रोमन—सिक्कों का इतना बाहुल्य हो गया कि कैडफाइसिस द्वितीय, कनिष्क, हुविष्क तथा वासुदेव के काल में अनेक बार विदेशी मुद्राओं के ढेर गलाकर भारतीय शैली में ढाले गए।

कुशान-काल पर सम्मतियाँ

श्री के० पी० जायसवाल ने अपने बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसायटी के जर्नल के ३३वें (मई, जून) अंक में भारतवर्ष का इतिहास (१५० ई० से ३५० ई० तक) लिखा है। इसका संक्षिप्त सार रायबहादुर पंड्या श्री बैजनाथ ने नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भाग १४, अंक २ में दिया है। पंड्याजी के इस लेख में स्थान स्थान पर कुशानकालीन सभ्यता एवं सामाजिक अवस्था पर कटाक्ष किए गए हैं। उनमें से कुछ उदाहरण यहाँ पर उद्धृत करना असंगत न होगा। "उसने (कनिष्क के क्षत्रप वनस्पर ने) प्रजा को ब्राह्मण-रहित कर दिया। उच्च वर्ण के हिंदुओं को गिराकर उसने नीच वर्ण के हिंदुओं और विदेशियों को उच्च पदों पर स्थापित किया। क्षत्रियों को मिटाकर उसने एक नई शासक जाति बनाई। उसने अपनी प्रजा को ब्राह्मण-धर्म-रहित कर दिया। उसने कैवर्त (केवट) और अस्पृश्य पंचकों में से शासक नियत किए। मद्रक, पुलिंद, शक आदि नीच जातियों को पंजाब से लाकर उत्तर भारत में जमाया और बढ़ाया। इस प्रकार कुशाण-काल में बहुत अत्याचार हुआ। ब्राह्मण-व्यवस्था में उन्हें उच्च पद न मिलने के कारण उन्होंने बौद्ध धर्म को ग्रहण किया—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उसे बढ़ाया। गर्गसंहिता, गुणाढ्य और अलबेरूनी इस शक अत्याचार का वर्णन करते हैं। महाभारत, वनपर्व, अध्याय १८८ और १९० में भी इस काल की स्थिति का वर्णन है।" (ना० प्र० पत्रिका, भाग १४, अंक २, पृष्ठ १८३) "नाग-साम्राज्य में बौद्ध-धर्म की अवनति हुई, क्योंकि वह अत्याचारी कुशण शकों का धर्म था।.....कुशण लोग गाय-बैल मारते थे।" (ना० प्र० पत्रिका, भाग १४, अंक २, पृष्ठ १८४) "वाकाटक काल की जनता कुशण-काल के अत्याचारों को धो बहाने का प्रयत्न कर रही थी।" (नागरी-प्रचारिणी पत्रिका, भा० १४, अंक २, पृष्ठ १८९) श्रीमान् जायसवालजी ने भारशिव राजाओं की खूब प्रशंसा की है। उन्होंने नाग और वाकाटक राजाओं को 'हिंदू-धर्म, गो और ब्राह्मण, साहित्य, भाषा, स्मृति, शिल्प, देश-संस्कृति, हिंदू भारत-वर्ष की जातीय सभ्यता' आदि के संरक्षक और उद्धारक कहा है। वस्तुतः वाकाटक साम्राज्य में देश भर में वर्णाश्रम-धर्म की ध्वजा फहराने लगी। नाग और वाकाटक राजाओं ने हिंदू-धर्म की जड़ जमाई और अनेक अश्वमेध यज्ञ किए। परंतु इससे यह निष्कर्ष तो नहीं निकलता है कि उनके पूर्ववर्ती कुशान-साम्राज्य में अशांति थी तथा हिंदू-धर्म पर कुठाराघात हुआ। वस्तुतः कुशान-काल में जो कुछ हुआ था वही वाकाटक-काल का आधार था। यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि कुशान-काल में धार्मिक सहिष्णुता किसी हद तक थी। यद्यपि कुशान-काल में बौद्ध-धर्म का अभ्युदय विशेष रूप से हुआ परंतु इससे कला और शिल्प की महती उन्नति हुई। हिंदू, बौद्ध और जैन तीनों ही धर्मों के उत्कर्ष के चिह्न हम कुशान-काल में देखते हैं। हिंदू-धर्म पर जो बौद्ध और जैन धर्मों का प्रभाव पड़ा उससे उसके स्वरूप में विशाल परिवर्तन हुआ। कुशानकालीन त्रिविध कला अब भी हमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारतवर्ष के प्राचीन गौरव का स्मरण कराती है। यदि कुशान-काल में हिंदू-धर्म पर अत्याचार हुआ होता तो आज हम कुशान-कालीन हिंदू देवी, देवताओं की मूर्तियों का अस्तित्व न पाते। पुराणों में जो कुछ कुशान-संबंधी अत्याचारों का उल्लेख है उसे तत्कालीन धार्मिक प्रतिस्पर्द्धा के वशीभूत होकर लिखा हुआ समझा जाय तो अनुचित न होगा। कुशान-काल के 'अत्याचार और दुराचार' की अतिरंजित कथाएँ कट्टरता की कोरी कल्पनाएँ हैं। हमको अग्नि का स्वरूप धूम्र के आवरण को हटाकर देखना होगा। वस्तुतः कुशानकालीन हिंदू, यूनानी और ईरानी संस्कृतियों के सम्मेलन को गुप्तकालीन उन्नति का बीज कहें तो कुछ अत्युक्ति न होगी।

'मथुरा की बौद्ध-कला' शीर्षक अपने लेख में श्रीयुत वासुदेवशरणजी अग्रवाल कुशान-काल की स्थिति का वर्णन बड़े सुंदर शब्दों में करते हैं। "शक-क्षत्रप-कुशान-काल (प्रथम शताब्दी पूर्व से ईसा की तृतीय शताब्दी तक) निर्माण का युग था। यह शांति और समृद्धि का समय था। इस युग में देश के वैभव, कला, साहित्य और संस्कृति को बहुत ही अभ्युदय प्राप्त हुआ। शक क्षत्रप तथा महाक्षत्रपों ने और उनके उत्तराधिकारी शहानुशाही कुशान-पुत्र वेम कनिष्क, वासिष्क, हुविष्क, वासुदेव आदि सम्राटों ने तन-मन-धन से समाज, देश और धर्म की उन्नति के लिये चेष्टा की। मथुरा ही उनके प्रयत्नों का प्रधान क्षेत्र बना रहा। यों तो उत्तरी भारत के प्रायः सभी प्राचीन स्थानों में कुशान-काल की कला-वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं। मथुरा इस समय एक बहुत बड़ा त्रिवेणी-संगम बन गया था। प्रथम तो यहाँ बौद्ध, जैन और हिंदू तीनों धर्मों का समन्वय हुआ। सम्राट् लोग अपने धर्मों और मतों का संवर्द्धन करके अपने पूर्ववर्ती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मौर्यगुरु के उपदेशों को चरितार्थ कर रहे थे। इस धर्मत्रिवेणी में आप्लावित समाज परम शांति का अनुभव कर रहा था। सर्वत्र विहार, स्तूप, चैत्य, मंदिर, पुण्यशाला, धर्मशाला, पुष्करिणी, उद्यान, आराम, कूप आदि के निर्माण में जनता अपूर्व उत्साह का परिचय दे रही थी। शिल्प-कला मूर्धाभिषिक्त होकर समाज की आंतरिक वृत्तियों का परिष्कार कर रही थी। काव्य-साहित्य का भी बहुत सम्मान था। अश्वघोष और नागार्जुन सदृश कवि और दार्शनिकों के आविर्भाव का यही युग था। गुप्तकालीन सर्वतोमुखी उन्नति के बीज इसी युग में बोए गए थे। आगे चलकर धर्म और संस्कृति के अभ्युत्थान में जिस देवोपम ज्योति के दर्शन हुए उसके प्रकाश की उषःछटा कुशान-काल में ही देखी गई। दूसरी पवित्र त्रिवेणी, जिसका संगम मथुरा में हुआ, तीन संस्कृतियों की थी। शाकद्वीपी जातियाँ अपनी संस्कृति को लाईं, पश्चिमी सीमा पर बसे हुए यूनानी राजाओं ने यूनान की संस्कृति का प्रचार किया। ऐसे समय में ईरान और यूनान के प्रवाहों ने भारतीय धारा में मिलकर उसकी वर्णछटा को बहुत ही अलौकिक बना दिया और उस धारा को धक्का देकर एक वेग उत्पन्न किया जिसकी शक्ति से कुशान-युग में सर्वत्र ही नवीन सृष्टि की धूम मच गई।"

अंतिम कुशान-सम्राट् वासुदेव के राज्य-काल के उपरांत भारतवर्ष में नाग-राज्य स्थापित हुआ। १८० ई० में नाग राजा वीरसेन ने मथुरा में हिंदू-राज्य स्थापित किया। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ विंसेंट स्मिथ ने कुशान-काल के अंत और गुप्त-वंश के आरंभ के बीच का समय अंधकारपूर्ण बतलाया है। परंतु श्रीयुत काशीप्रसाद जायसवाल ने इस युग के इतिहास पर प्रकाश डाला है और सिद्ध किया है कि कुशान-काल के पश्चात् भारतवर्ष में नाग और वाकाटक राजाओं ने राज्य किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५) रामचरित-मानस के संवाद

[लेखक—श्री चंद्रबली पांडेय, एम० ए०, काशी]

रामचरित-मानस के संवादों का तात्पर्य उन संवादों में है जो उसके वक्ताओं और श्रोताओं के बीच आदि से अंत तक लगातार चलते रहे हैं; उन संवादों से कदापि नहीं जो अंगद-रावण आदि विशिष्ट पात्रों में प्रसंग-वश हो जाते हैं। इन संवादों के संबंध में स्वयं गोस्वामी तुलसीदासजी का कहना है कि उन्होंने बुद्धि और विचार से काम लेकर इनकी रचना की है। रामचरित-मानस के सांग-रूपक में गोस्वामीजी ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि उनके मानस में मज्जन करने के लिये इन संवाद-रूपी घाटों से जाना अत्यंत आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। वे कहते हैं—"सुठि सुंदर संवाद बर बिरचे बुद्धि बिचारि। तेइ एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि॥' इन संवादों को गोस्वामीजी एक ओर तो 'सुठि' और 'सुंदर' कहते हैं और दूसरी ओर उन्हें 'बुद्धि' और 'विचार' का परिणाम बताते हैं। गोस्वामीजी को इन संवादों की नवीन उद्भावना नहीं करनी थी। आर्यों के प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद में भी अनेक संवाद पाए जाते हैं। उपनिषदों में संवादों की कमी नहीं। उन्हीं के आधार पर उनमें किसी तत्त्व की व्याख्या की गई है। पुराण तो संवाद के रूप में लिखे ही गए हैं। उनके वक्ता और श्रोता प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। गीता में भी संवाद की पूरी प्रतिष्ठा है और इसी रूप में उसमें ब्रह्मविद्या का व्याख्यान किया गया है। सारांश यह कि स्वतः संवादों में कोई ऐसी बात नहीं कि गोस्वामीजी उन्हें अपनी बुद्धि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और अपने विचार का परिणाम कहें। उनके समय में भी लोग संवादों की परंपरा से भली भाँति परिचित थे और यह अच्छी तरह जानते थे कि संवादों की उपयोगिता क्या है। फिर भी गोस्वामी-जी ने अपना यह दावा पेश किया है कि उन्होंने बुद्धि और विचार के साथ इन संवादों की रचना की। गोस्वामीजी के इस आग्रह को देखकर यह मानना पड़ता है कि 'मानस' के इन संवादों में परंपरागत संवादों से कुछ विशेषता अवश्य है। खेद की बात है कि हमने आज तक इसके रहस्य के उद्घाटन का प्रयत्न नहीं किया और हमारे अनेक पंडितमानी आलोचकों ने इन्हें प्रसाद-वश तुक का साधन मान लिया। हमारा नम्र निवेदन तो यह है कि पाठक कृपया 'मानस' के अध्ययन अथवा अवगाहन का प्रयत्न करें और देखें कि स्वयं गोस्वामीजी का इष्ट क्या है। रामचरित-मानस की विस्तृत भूमिका का प्रयोजन ही यही है कि हम गोस्वामीजी के मानस में अवगाहन कर सकें। रामचरित-मानस सामान्य राम-चरित नहीं है। उसके संवाद तथा सोपान ही उसको अन्य राम-चरितों से भिन्न करते हैं और स्पष्ट दिखा देते हैं कि वास्तव में गोस्वामी तुलसीदास क्या थे और किस लिये 'मानस' की रचना कर रहे थे।

गोस्वामीजी के 'स्वांतःसुखाय' को लेकर अध्यात्म-लोलुपों ने हिंदी-साहित्य में हलचल मचा दी। पर उनकी मुग्ध दृष्टि में इतनी छोटी सी बात न आ सकी कि गोस्वामीजी को दुःख काहे का था। जिन लोगों ने रामचरित-मानस का अवगाहन कर लिया है और काग भुसुंडि की कलि-गाथा को भी सुन लिया है वे लोग अच्छी तरह जानते हैं कि गोस्वामीजी को किस बात का दुःख था। गोस्वामीजी ने अनेक स्थलों पर अपने हृद्गत क्षोभ का निदर्शन किया है। कहीं उन्हें इस बात का दुःख है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग' तो कहीं उन्हें इस बात की चिंता है कि "सबदी साखी दोहरा कहि किहिनी उपखान, भगति निरूपहिं भगत कलि निंदहिं बेद पुरान।" सारांश यह कि गोस्वामीजी को इस बात की बड़ी चिंता थी कि उनकी आँखों के सामने ही आर्य-संस्कृति रसातल को चली जा रही थी। वर्णाश्रम धर्म और भारतीय भक्ति की मर्यादा को नष्ट होते देख गोस्वामीजी सिहर उठे। जब उन्होंने देखा कि कृष्ण-भक्त भी एक ऐसे सख-प्रेम का प्रचार कर रहे हैं जो वास्तव में मधु और घृत के मिश्रण की भाँति प्राण-घातक है तब उनको कुछ निराशा हुई। पर ज्योंही उनकी दृष्टि धनुषपाणि राम पर गई त्योंही वे समझ गए कि अब मर्यादा का अवलंबन मिल गया। जब वे राम को लेकर साहित्य-क्षेत्र में अवतरित हुए और जनता को राममय करने चले तब उन्हें पता चला कि उसके बीच तो न जाने किस राम का प्रचार किया जा रहा है और न जाने किस अलख को लखने की व्यवस्था दी जा रही है। गोस्वामीजी व्याकुल हो गए। पर उन्हें महावीर का बल मिला और उन्होंने उस 'मानस' का निर्माण किया जिसके संबंध में उनकी घोषणा है कि "पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरं शुभम्। श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये ते संसार-पतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः॥"

गोस्वामीजी को उस भक्ति की फिर से प्रतिष्ठा करनी थी जिसको गोरख के योग ने भगा दिया था। योगियों और सूफ़ियों के मेल से जो निर्गुण संत-मत चल पड़ा था और जिसके कबीर-दास प्रवर्तक बन बैठे थे उसका बहुत कुछ प्रचार हो गया था। रामानुजाचार्य के भक्ति-मार्ग का शास्त्रीय स्वरूप सामान्य जनता के सामने न आ सका। रामानंद आदि के आंदोलन ने संत-मत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को प्रोत्साहन दिया। संतों ने रामानंद के राम को निर्गुण बनाकर अपना लिया। कबीर ने स्पष्ट घोषणा कर दी कि राम को लोग दशरथ का पुत्र कहते हैं, पर राम का मर्म कुछ और ही है। सूरदास को योगियों और संतों की यह धाँधली खली। उन्होंने स्वामी वल्लभाचार्य की सगुण क्या साकार भक्ति का पक्ष लिया और जनता के सामने राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला को रख दिया। सूरदास ने भक्ति की जिस भावना को पसंद किया उसमें लोक-मर्यादा का कोई विधान न था। लोक-मंगल से उसका कुछ विशेष संबंध न था। गोलोक की नित्य-लीला उनके सामने थी। यदि कोई उनके सामने योग, निर्गुण, ज्ञान आदि का नाम न लेता तो वे भ्रमर-गीत की योजना न करते। उद्धव का जो रूप भ्रमर-गीत में दिखाई देता है वह भागवत के उद्धव का रूप नहीं है। वह तो उन ज्ञानियों का रूप है जो बात-बात में योग, निर्गुण और ज्ञान का नाम लेते हैं और इस बात पर विचार नहीं करते कि वह कहाँ तक हृदयग्राही अथवा युवतियों के उपयुक्त है। भ्रमरगीत में सूर ने साकार-भक्ति का निरूपण किया। पर उनका यह प्रयत्न अधूरा और काव्य-प्रधान रह गया है। गोपियों ने उद्धव का सामना डटकर नहीं किया। भ्रमर की आड़ लेकर उन्होंने निर्गुण और ज्ञान का परिहास किया। उन्होंने यह नहीं कहा कि निर्गुण मनुष्य-मात्र के लिये कठिन और दुर्लभ है। उन्होंने तो इस बात पर अधिक आग्रह किया कि स्त्रियों के लिये योग या निर्गुण उचित नहीं है। उनके लिये साकार सौंदर्य अपेक्षित है। कहने का तात्पर्य यह कि सूरदास ने भक्ति का निरूपण खुलकर नहीं किया। अधिक से अधिक उन्होंने यही किया कि नंददास और गोस्वामीजी के लिये एक मार्ग निर्धारित कर जनता को कृष्ण की ओर खींच लिया। नंददास ने भ्रमर-गीत में गोपियों को उद्धव से भिड़ा दिया। उनमें एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार से शास्त्रार्थ छिड़ गया। पर उनका भी प्रयत्न ब्रज ही तक सीमित रह गया और वे भी सूफियों और संतों का सामना न कर सके। गोस्वामी तुलसीदास कट्टर मर्यादावादी थे। उन्हें अनधिकार चेष्टा से चिढ़ थी। उन्होंने देखा कि यदि संतों और सूफियों के प्रचार पर वज्रपात नहीं किया जाता तो प्रेम और योग के धोखे में हिंदू जनता अपने स्वरूप और अपनी संस्कृति को भुलाकर, एक ऐसे मार्ग को ग्रहण कर लेगी जिसका लक्ष्य अनिष्ट है। निदान उनको विवश होकर चित्त की शांति के लिये उस रामचरित-मानस का निर्माण करना पड़ा जिसके संवादों के संबंध में आज हम कुछ विचार कर रहे हैं और जो न जाने कितने हृदयों का प्राणाधार और जीवन का एकमात्र स्रोत है। रामचरित-मानस हिंदू-जाति का प्राण और जीवन है। उसके संवादों को समझ लेने से आपको अवगत हो जायगा कि हम क्यों इसे अमृत के रूप में ग्रहण करते हैं और सूखे निर्वाण की उपेक्षा कर देते हैं।

गोरख और कबीर के चेलों ने पठित समाज से भक्ति को नहीं भगाया था। पंडितों और मनीषियों के सामने इन निरक्षराचार्यों की कुछ नहीं चलती थी। गोस्वामी तुलसीदासके 'राम नाम जपु नीच' में इसी बात की व्यंजना हुई है। पर अपठित जनता के तो ये तारक बन चले थे और नाना प्रकार की बातें कर जनता के हृदय से राम के दिव्य स्वरूप को खदेड़कर शीशे में न जाने किस पुरुष को झलकाते थे। गोस्वामीजी ने देखा कि अपठित समाज के सामने कोरी वेदांतचर्चा व्यर्थ है। आचार्यों का शास्त्रीय भक्ति-निरूपण भी उसके किसी काम में नहीं आ सकता। उसके हृदय की शांति के लिये उस परम हृदय की आवश्यकता है जिसे सब लोग आदर्श रूप में जानते और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसे अपना अगुआ समझते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि सभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बातें रामचरित में थीं। रामचरित को लेकर अध्यात्म का सृजन हो चुका था। अध्यात्म रामायण भी बन चुका था। आवश्यकता केवल एक ऐसे 'मानस' की थी जिसमें सभी स्रोतों का रस हो और जो मृतक हिंदू-जाति में भक्ति-रस का संचार कर सके। गोस्वामीजी ने उसी रस को भाषाबद्ध किया और हिंदू-जाति को मरने से बचा लिया।

रामचरित-मानस की परंपरा पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि इसकी रचना का सारा श्रेय शंकरजी को है। रामचरित-मानस के संबंध में गोस्वामीजी स्वत: कहते हैं "रचि महेस निज मानस राखा, पाइ सुसमउ सिवा सन भाखा। तातें रामचरित-मानस बर, धरेउ नाम हिय हेरि हरषि हर॥" महेश ने जिस रामचरित-मानस की रचना की वह केवल उमा से कहने के लिये ही न थी। शंकर तो उसका प्रचार चाहते थे। पर यह उनके लिये भार-स्वरूप नहीं हो गया था कि वे इसे योंही सबको बाँटते फिरें। अधिकारी की चिंता उन्हें बराबर रहती थी। यह दुर्लभ 'मानस' भाषाबद्ध किस प्रकार हुआ इसको भी सुन लीजिए—"संभु कीन्ह यह चरित सोहावा, बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा। सोइ सिव कागभुसुंडिहिं दीन्हा, रामभगत अधिकारी चीन्हा॥ तेहि सन जागबलिक पुनि पावा, तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा। ते श्रोता बकता समसीला, समदरसी जानहिं हरि-लीला॥ जानहिं तीनि काल निज ग्याना, करतलगत आमलक-समाना। औरौ जे हरिभगत सुजाना, कहहिं सुनहिं समुझहिं बिधि नाना॥.....भाषाबद्ध करबि मैं सोई, मोरे मन प्रबोध जेहि होई। अस कछु बुधि-बिबेक-बल मेरे, तस कहिहौं हिय हरि के प्रेरे॥" इस प्रकार हम देखते हैं कि रामचरित-मानस का संप्रदाय अति प्राचीन है और अनेक अवसरों पर अनेक रूपों में वह श्रवण किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामचरित-मानस का कथानक अति प्राचीन है; किंतु उसमें नवीनता की कमी नहीं। हम उसके वस्तु-विन्यास को सर्वथा परंपरागत नहीं कह सकते। गोस्वामीजी ने स्वयं ही इस बात का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है कि उनके प्रबंध में कुछ विचित्रता है। उनका कहना है "कीन्ह प्रश्न जेहि भाँति भवानी, जेहि बिधि संकर कहा बखानी। सो सब हेतु कहब मैं गाई, कथा-प्रबंध बिचित्र बनाई॥" पाठकों से उनका निवेदन है कि "जेहि यह कथा सुनी नहिं होई, जनि आचरज करै सुनि सोई।...कलपभेद हरिचरित सुहाए, भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए।" कहने का तात्पर्य यह कि गोस्वामीजी ने अपने प्रबंध में जिन विचित्रताओं का विधान किया है उनमें सबसे विलक्षण उसके संवाद हैं। संवादों की ऐसी योजना केवल गोस्वामीजी ने की है। याज्ञवल्क्य और भरद्वाज का प्रसंग अन्यत्र आया है, शंकर और पार्वती के संवादों में तंत्र और पुराण भरे हैं, कागभुसुंडि और गरुड़ की उद्भावना भी नवीन नहीं है; पर इन सब का सामंजस्य और समन्वय केवल रामचरित-मानस में हुआ है। कागभुसुंडि ने गरुड़ से जो राम-कथा कही थी वह हमारे सामने नहीं है। हम अभी तक 'कागभुसुंडि-रामायण' से अपरिचित हैं, परंतु जो कुछ हम उसके विषय में जान सके हैं उसका परिणाम यह है कि हम रामचरित-मानस पर उसका विशेष प्रभाव नहीं मानते। गर्ग-संहिता में काग और गरुड़ का जो प्रसंग आया है और उसमें काग-भुसुंडि की काग-योनि पाने की जो वार्त्ता है वह 'मानस' से सर्वथा भिन्न है। निदान हम देखते हैं कि गोस्वामीजी ने रामचरित-मानस के प्रबंधों और संवादों में केवल परंपरा का पालन ही नहीं किया है प्रत्युत अपनी प्रतिभा से उनमें नवीनता का भी पूरा योग दिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम पहले ही कह चुके हैं कि गोस्वामीजी भक्ति का निरूपण करना चाहते थे और इस प्रकार करना चाहते थे कि उससे 'सुरसरि सम सब कर हित होई'। निरूपण अथवा किसी सत्य की प्रतिष्ठा के लिये यह आवश्यक होता है कि विरोधी के पक्ष को भी रख दिया जाय। विपक्ष की बातों को अच्छी तरह सुनकर जब उनका खंडन किया जाता है तभी उत्तर पक्ष हमारे हृदय में स्थान पाता है और हम अनायास उसे अपना लेते हैं। यदि विचार से देखा जाय तो पूर्वपक्ष का उचित प्रसार संवाद ही में होता है। यही कारण कि यूनान तथा भारत के अनेक दार्शनिक पंडितों ने संवाद के रूप में अपने मत का प्रकाशन किया है। इस दृष्टि से देखने से स्पष्ट अवगत होता है कि गोस्वामीजी ने संवादों पर अधिक जोर इसी लिये दिया है कि हम उनके प्रकाश में पूर्वपक्ष की निर्बलता देख लें। पर तर्क के क्षेत्र में पहुँचकर गोस्वामीजी भक्ति का शास्त्रीय निरूपण करना जनता के लिये लाभप्रद नहीं समझते थे। यही नहीं, उनको तो कोरे तर्कवाद से चिढ़ थी। उनकी समझ में शुष्क हेतुवाद ज्ञानियों के लिए भी अपेक्षित न था। शुद्ध 'वाक्यज्ञान' से हृदय का अंधकार नहीं नष्ट हो सकता। इसके लिये ज्ञान-दीप अथवा दिव्य-ज्योति अपेक्षित है। सुनी-सुनाई बातों को लेकर 'निर्गुनिए' संत जो तर्क करते थे उसको हम शास्त्रीय रूप में नहीं पाते। गोस्वामीजी ने देखा कि जिसे सत्य की वास्तविक जिज्ञासा है उसके लिये तो शास्त्र भरे पड़े हैं; किसी भी समय उनसे उसको तृप्ति मिल सकती है। पर जिन्हें बकवाद करने का व्यसन है उन्हें तर्क से परास्त करना व्यर्थ है। वे सत्य को छोड़ सकते हैं, पर अपने प्रिय जल्प को त्याग नहीं सकते। अतएव उनकी उपेक्षा कर एक ऐसे मार्ग का अनुसरण किया जाय जो सबके लिये सुगम और आनंदप्रद हो; जिसको सभी अपना सकें। कहने की आवश्यकता नहीं कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोस्वामीजी का वह इष्ट मार्ग राम-भक्ति है; जिसे वे स्वयं राजमार्ग कहते हैं। इसी राजमार्ग को निर्मल और स्वच्छ बनाए रहने के लिये गोस्वामीजी ने रामचरित-मानस में संवादों का विधान किया। रामचरित पर विचरण करते समय जहाँ कहीं हमारे मन में कोई प्रश्न उठता है वहीं हम देख लेते हैं कि रामचरित-मानस के वक्ता उसी प्रश्न का समाधान कर रहे हैं और दिखा रहे हैं कि राम-भक्ति कितनी बोधिनी और मीठी है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया कि रामचरित-मानस में किसी अध्यात्म का शास्त्रीय निरूपण नहीं हो सकता था। अध्यात्म को लेकर गोस्वामीजी किसी अध्यात्म रामायण का सृजन करना नहीं चाहते थे। गोस्वामीजी अध्यात्म को काव्य का विषय बनाना यदि उत्तम समझते तो उनके रामचरित को कुछ और ही रूप मिलता। हमारी समझ में गोस्वामीजी ने यह बहुत अच्छा किया कि कबीर आदि संतों का समाधान पाँच-पचीस के ब्योरे और पहेलियों में न कर प्रत्यक्ष रामचरित के आधार पर किया और स्थान स्थान पर अपने अध्यात्म का आभास भी दे दिया। गोस्वामीजी को यदि शुद्ध अध्यात्म का पक्ष लेना होता तो वे याज्ञवल्क्य को अपना रूप दे देते और उनके द्वारा अपने अध्यात्म का प्रतिपादन कर लेते। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। रामचरित-मानस के याज्ञवल्क्य यद्यपि वही चिरपरिचित उपनिषदों के ज्ञानी याज्ञवल्क्य हैं तथापि वे यहाँ ज्ञान-कांड का प्रतिपादन नहीं करते। प्रत्युत उनको भी रामचरित ही प्रिय लगता है। उनसे भी गोस्वामीजी ने भक्ति का निरूपण करा लिया है और ज्ञानियों के सामने यह प्रत्यक्ष कर दिया है कि ज्ञान तभी सफल हो सकता है जब उसका पर्यवसान भक्ति में हो।

ज्ञान, कर्म और भक्ति आदि के सापेक्ष रूप से अनभिज्ञ रहने के कारण कतिपय पंडितों का दावा है कि रामचरित-मानस में ज्ञान,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्म, भक्ति एवं दैन्य के प्रतिपादन के लिये चार संवादों की रचना की गई। इस मत का खंडन हम अन्यत्र कर चुके हैं। प्रसंग-वश यहाँ इतना कह देना है कि रामचरित-मानस में ज्ञान-कर्म-व्यवस्थित भक्ति का निरूपण है, कोरी भक्ति या अन्य कांडों का नहीं। रही दैन्य की बात। उसके विषय में हमारा कहना है कि प्रणिधान या प्रपत्ति कोई स्वतंत्र मार्ग अथवा कांड नहीं है। उसे तो हम भक्ति की एक दृढ़ सीढ़ी समझते हैं। फिर उसे भक्ति से अलग एक स्वतंत्र मार्ग किस प्रकार मान सकते हैं? इतने पर भी दैन्य से जिसे विशेष प्रेम हो उसे गोस्वामीजी की विनय-पत्रिका पढ़नी चाहिए। राम के सामने गोस्वामीजी दीन हैं; कुछ रामचरित की स्थापना करते समय नहीं। रामचरित-मानस में तो तुलसीदास इतने समृद्ध और बलशाली हैं कि उनको इंद्र भी श्वान की भाँति तुच्छ दिखाई देता है। फिर रामचरित-मानस में दैन्य कैसा?

गोस्वामीजी ने रामचरित-मानस में अपने प्रतिपाद्य विषय को इतना स्पष्ट रखा है कि उसके संबंध में तर्क-वितर्क करने की आवश्यकता नहीं। मानस के सांग रूपक में ही उन्होंने साफ कह दिया है कि 'भगति-निरूपन बिबिध बिधाना' ही उनको इष्ट है! मानस के अंत में तो गोस्वामीजी ने घोषणा कर दी है कि उनका प्रतिपाद्य विषय क्या है और मानस के सप्त-सोपानों का उससे क्या संबंध है। शंकरजी पार्वती से कहते हैं कि इस राम-कथा में जो सप्त-सोपान हैं वे राम-भक्ति के मार्ग हैं। 'एहि महँ रुचिर सप्त-सोपाना, रघुपति-भगति केर पंथाना' से स्पष्ट है कि रामचरित-मानस में तरह तरह से भक्ति का ही प्रतिपादन किया गया है, ज्ञान या कर्म का कदापि नहीं। गोस्वामीजी ने मानस में किस प्रकार भक्ति का निरूपण किया है, इसका विवेचन हम अन्यत्र करेंगे। प्रसंगवश यहाँ इतना दिखा देना चाहते हैं कि रामचरित-मानस के प्रथम और द्वितीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सोपान तो राम-भक्ति की भूमिका मात्र हैं। वास्तव में भक्ति का निरूपण तृतीय सोपान अथवा अरण्यकांड से होता है। 'मानस' के सोपानों को कांड कहने की आवश्यकता इसलिये पड़ी कि लोगों में कांड ही प्रसिद्ध हैं और कितने संपादकों ने तो प्रमाद-वश उनको कांड लिख भी दिया है। परंतु गोस्वामीजी को 'कांड' इष्ट न था। इसी लिये उन्होंने मानस में अवगाहन करने के लिये 'सोपान' की उद्भावना की। मानस के भक्ति-रस में निमज्जन करने के लिये जिन सोपानों को पार करना है उनका उल्लेख गोस्वामीजी ने इस प्रकार किया है कि उनका अध्ययन करने से इस बात में जरा भी संदेह नहीं रह जाता कि रामचरित-मानस में नाना रूपों में केवल भक्ति का निरूपण किया गया है। ज्ञान, कर्म अथवा दैन्य का स्वतंत्र विवेचन उसमें नहीं। वे तो भक्ति के अंग अथवा सहायक के रूप में आए हैं।

हम कह चुके हैं कि मानस के प्रथम और द्वितीय सोपान रामचरित में हमारी रुचि उत्पन्न करते हैं। भक्ति-भावना की दृष्टि से इनकी उपयोगिता यह है कि हम राम के शील, सौंदर्य और शक्ति को अच्छी तरह देख लें। जब उनके गुणों को देखकर उन पर हमारी श्रद्धा हो जायगी तब हम उनकी भक्ति को पसंद करेंगे और स्वत: उनकी ओर उन्मुख होंगे। यही कारण है कि प्रथम और द्वितीय सोपान का नामकरण किसी भाव-विशेष के आधार पर नहीं किया गया है। रामचरित-मानस के पाठकों को इस बात का पता होगा कि विश्वामित्र के अयोध्या-गमन से लेकर भरत के नंदि-ग्राम में तपोव्रत लेने तक की कथा में कहीं भी इस बात का उल्लेख नहीं है कि राम-कथा के वक्ता शिव, याज्ञवल्क्य और कागभुसुंडि भी हैं। भरद्वाज, पार्वती और गरुड़ को इस कथा में शायद कोई आपत्ति न थी। बाल के अंत और अयोध्या के संपूर्ण कांड में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उक्त संवादों का अभाव कुछ महत्त्व रखता है। राम के जन्म के प्रथम की कथा रामचरित-मानस की भूमिका है और जन्म से लेकर चित्रकूट तक की कथा राम-भक्ति की भूमिका। राम-भक्ति की इस भूमिका में भी गोस्वामीजी इस बात को भुलाना नहीं चाहते कि राम का वास्तविक स्वरूप क्या है। इस भूमिका की विशेषता यह है कि इसमें 'मानस' के पात्रों द्वारा इस बात की पुष्टि की गई है कि राम पर-ब्रह्म हैं, एक सामान्य राजकुमार नहीं। राम और सीता के विवाह को देखकर जब सुरों को आश्चर्य हो जाता है और वे विभ्रम में पड़ जाते हैं तब शंकरजी उन्हें समझा देते हैं कि राम और सीता सामान्य जीव नहीं हैं। शिवजी ने इस अवसर पर पार्वतीजी से कुछ भी नहीं कहा। अस्तु, समूचे प्रसंग पर ध्यान देने से अवगत हो जाता है कि प्रकृत प्रसंगों में अन्य संवादों की उपेक्षा जान-बूझकर की गई है। गोस्वामीजी को इष्ट न था कि विवाह और वन-गमन के प्रसंगों में भी भरद्वाज, पार्वती और गरुड़ का उल्लेख किया जाय। निदान 'मानस' के इतने अंश को गोस्वामीजी ने राम-भक्ति की भूमिका के रूप में रखा और पाठकों को दिखा दिया कि जिस राम के संबंध में 'मानस' में संवाद छिड़े हैं उसके साथ हमारे हृदय का क्या संबंध है।

राम के शील, शक्ति और सौंदर्य को जब हमारे हृदय में जगह मिल जाती है तब हम देखते हैं कि मानस में राम की नर-लीला आरंभ होती है। पाठकों को स्मरण होगा कि मानस के प्रसिद्ध और सर्वप्रधान श्रोतृ सती को राम के इसी रूप को देखकर मोह हुआ था। उनके संदेह का प्रधान कारण था "खोजै सो कि अग्य इव नारी, ग्यान-धाम श्रीपति असुरारी।" तात्पर्य यह कि वस्तुतः दंडक वन अथवा तृतीय सोपान से ही गोस्वामीजी का वास्तविक भक्ति-निरूपण आरंभ होता है। यहीं से गोस्वामीजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रोताओं और पाठकों को सचेत कर देते हैं कि अब राम का गूढ़ गुण सामने आ रहा है। शंकरजी ने पार्वती को सावधान किया "उमा राम-गुन गूढ़, पंडित मुनि पावहिं बिरति; पावहिं मोह बिमूढ़, जे हरि-बिमुख, न धरम रति।" श्रोताओं के हृदय में राम के प्रति सहानुभूति है। प्रथम और द्वितीय सोपान में हृदय को राम की ओर उन्मुख कर दिया गया है। अतएव तृतीय सोपान में उन्हें मोह नहीं मिल सकता। निदान, गोस्वामीजी ने तृतीय सोपान की पुष्पिका में उसका नामकरण इस प्रकार किया—"इति श्रीरामचरितमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने विमलवैराग्यसम्पादनो नाम तृतीयः सोपानः समाप्तः"। सारांश यह कि तृतीय सोपान में विमल वैराग्य का संपादन किया गया है। इसके अनंतर चतुर्थ, पंचम, षष्ठ और सप्तम सोपानों में क्रमशः विशुद्ध संतोष, ज्ञान, विमल विज्ञान एवं अविरल हरिभक्ति का संपादन किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानस का प्रत्येक सोपान हमें हरि-भक्ति की ओर उन्मुख कर रहा है और सब का समाहार उसी भक्ति में हो जाता है। अस्तु, हमें कहना पड़ता है कि रामचरित-मानस के प्रत्येक संवाद में इसी भक्ति का निदर्शन हो रहा है; किसी ज्ञान अथवा कर्मकांड का नहीं। 'सकलकलिकलुष-विध्वंसन' का आरंभ तो प्रथम सोपान में ही हो जाता है, किंतु भक्ति का आरंभ तृतीय सोपान से होता है। इसलिये यहीं से सोपानों का नामकरण मिलता है और लगातार सप्तम सोपान तक चला जाता है।

यह तो सिद्ध हो गया कि रामचरित-मानस के प्रत्येक संवाद में भक्ति का निरूपण किया गया है और उसी में ज्ञान का भी समावेश हो गया है। पर अभी तक इस बात का विचार नहीं किया गया कि इन संवादों की विशेषता क्या है। क्यों रामचरित-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानस में चार संवादों की योजना की गई ? इस प्रश्न पर विचार करने के पहले ही यह जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है कि इन संवादों की अलग अलग उद्भावना का कारण कहीं इनकी राम-कथा की भिन्नता तो नहीं है ! कहीं यह दिखाने के लिये तो गोस्वामीजी ने अनेक संवादों की कल्पना नहीं कर ली कि 'हरि अनंत हरिकथा अनंता'। यद्यपि अनेक स्थलों पर गोस्वामीजी ने इस बात पर जोर दिया है कि राम की कथा अनंत है तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि रामचरित-मानस की कथा भी अनंत है। राम की अनंत कथा का कारण कल्पभेद है, संवाद-भेद नहीं। गोस्वामीजी ने इस विषय को इस प्रकार स्पष्ट किया है कि उसमें किसी प्रकार का अन्यथा भाव नहीं खप सकता। उनका कथन है "राम-कथा कै मिति जग नाहीं, असि प्रतीति तिन्हके मन माहीं। नाना भाँति राम-अवतारा, रामायन सतकोटि अपारा॥ कलप-भेद हरि-चरित सोहाए, भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए। करिय न संसय अस उर आनी, सुनिय कथा सादर रति मानी॥" गोस्वामीजी को यह भूमिका इसलिये बाँधनी पड़ी कि उनके रामचरित-मानस की कथा को सुनकर लोग विचलित और चकित न हो जायँ। जब उन्हें राम-कथा को एक विशेष रूप देना था, 'कथा-प्रबंध बिचित्र बनाई' राम-गुण-गान करना था, तब उनके लिये यह आवश्यक था कि जनता के हृदय में यह भाव भर दें कि राम-कथा की कोई सीमा नहीं है। यदि कहीं राम-कथा की प्रबंध-धारा में कुछ विचित्रता आ जाय तो उसे देखकर आश्चर्य में नहीं पड़ना चाहिए, बल्कि इस बात पर विचार करना चाहिए कि उस विचित्रता का कारण क्या है। क्यों राम ने इस प्रकार की लीला की और भक्तों ने क्यों उसे इस प्रकार का विलक्षण रूप दे दिया ? निष्कर्ष यह कि रामचरित-मानस की प्रबंध-धारा के पुष्टिकरण के लिये गोस्वामीजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने अनंत हरि-कथा का नाम लिया है, कुछ संवादों की अलग अलग विशेषता दिखाने के लिये नहीं। प्रत्येक संवाद में एक ही रामचरित-मानस की कथा चल रही है। इसका एक दृढ़ प्रमाण यह भी है कि गोस्वामीजी ने स्वयं इसकी साँप्रदायिक परंपरा का उल्लेख करते हुए कहा है कि स्वयं शंकरजी ने इस रामचरित-मानस की रचना की और उन्हीं के प्रसाद से यह दुर्लभ कथा काग-भुसुंडि और याज्ञवल्क्य को मिली। गोस्वामीजी को भी इसी की प्राप्ति उनके गुरु से हुई थी और उन्होंने इसी को अपनी बुद्धि तथा विवेक के अनुसार रचकर भाषा में प्रकाशित किया। मतलब यह कि रामचरित-मानस का कथा-प्रबंध प्रत्येक संवाद में एक ही है। अथवा यों कहिए कि एक ही रामचरित-मानस की कथा प्रत्येक संवाद में चल रही है। यह ठीक है कि याज्ञवल्क्य और भरद्वाज का स्पष्ट उल्लेख केवल प्रथम सोपान में है, और काग-भुसुंडि तथा गरुड़ का उल्लेख तृतीय सोपान से आरंभ हो अंत में समाप्त होता है। यह उससे भी अधिक सत्य है कि शिव-पार्वती का प्रसंग राम-विवाह और राम-वनगमन में नहीं आता। पर इतने ही से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि संवादों की इस भिन्नता का कारण कथा-प्रबंध की भिन्नता है। याज्ञवल्क्य ने भरद्वाज से पहले शिव-चरित्र कहा, फिर उन्होंने शिव-पार्वती के संवाद को छेड़ दिया। शिव-पार्वती के संवाद में कागभुसुंडि और गरुड़ का प्रसंग आ गया। शंकर ने आरंभ में ही कह दिया "सुनु सुभ कथा भवानि रामचरित-मानस बिमल, कहा भुसुंडि बखानि सुना विहँग-नायक गरुड़"। इस प्रकार हम देखते हैं कि संवादों की कथा में यदि कुछ अंतर है तो वह राम-कथा के संबंध में नहीं; बल्कि संवादों के अवतरण अथवा उनके तथ्य-परिचय में। शंकर ने पार्वती से स्पष्ट कह दिया कि उन्होंने जो कथा पार्वती से कही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसी कथा को कागभुसुंडि ने भी गरुड़ से कहा। उनका कथन है "कथा समस्त भुसुंडि बखानी, जो मैं तुम्हसन कही भवानी"। निदान हमको दृढ़ता के साथ कहना पड़ता है कि संवादों की भिन्नता का कारण कथा-प्रबंध नहीं है। कारण, प्रत्येक संवाद बराबर चलते रहे हैं। इसका प्रबल और अकाट्य प्रमाण यह है कि 'मानस' के अंत में प्रत्येक संवाद का उपसंहार किया गया है।

गोस्वामीजी ने संवादों का उपसंहार निर्दिष्ट रूप में किया है। यद्यपि मानस में इन उपसंहारों का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता तथापि मनन करने से अवगत हो जाता है कि रामचरित-मानस में संवादों का उपसंहार भी उसी क्रम से किया गया है जिस क्रम से उनका उपक्रम। रामचरित-मानस में याज्ञवल्क्य और भरद्वाज का संवाद प्रथम आता है और फलतः उसका अवसान भी अंत में होता है। कागभुसुंडि और गरुड़ का संवाद अंत में आता है और उसका अंत पहले हो जाता है। रही गोस्वामीजी के संवाद की बात। उसके संबंध में निवेदन है कि रामचरित के अथ से इति तक उसका प्रसार है। गोस्वामीजी के संवाद पर कुछ विचार करने के प्रथम ही यह देख लेना है कि अन्य संवादों का पर्यवसान किस प्रकार हुआ है। श्रोताओं पर रामचरित-मानस का क्या प्रभाव पड़ा है। सर्वप्रथम गरुड़जी को लीजिए। उन्होंने कागभुसुंडि से कहा "मैं कृतकृत्य भएउँ तव बानी, सुनि रघुबीर-भगति-रस-सानी। रामचरन नूतन रति भई, मायाजनित बिपति सब गई।.....जीवन जनम सुफल मम भएऊ, तव प्रसाद संसय सब गएऊ। जानेहु सदा मोहि निज किंकर, पुनि पुनि उमा कहै बिहंगबर।" तात्पर्य यह कि इस कथा का प्रभाव गरुड़जी पर यह पड़ा कि उनके संशय का नाश हो गया और राम-चरण में नवीन रति उत्पन्न हो गई। अब यह देखना चाहिए कि उमा पर इस कथा का कैसा रंग चढ़ा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गिरिजा ने शंकरजी से स्पष्ट कहा "नाथ कृपा मम गत संदेहा, राम-चरन उपजेउ नव नेहा। मैं कृतकृत्य भइऊँ अब, तव प्रसाद बिस्वेस। राम-भगति दृढ़ उपजी, बीते सकल कलेस॥" भरद्वाज पर इस कथा का कुछ प्रभाव पड़ा अथवा नहीं यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। वास्तव में याज्ञवल्क्य और भरद्वाज का संवाद उक्त दोनों संवादों से भिन्न है। अतएव यदि भरद्वाज का वह रूप नहीं दिखाई देता जो गरुड़ या पार्वती का दिखाई दे रहा है तो इसमें आश्चर्य क्या! वे मोह में पड़े ही कब थे।

संवादों की अलग अलग विशेषताओं पर विचार करने के पूर्व ही कुछ यह भी देख लेना चाहिए कि गोस्वामीजी का कोई स्वतंत्र संवाद कहा जा सकता है अथवा नहीं। इसमें तो किसी भी मनीषी को कोई आपत्ति न होगी कि स्वतः गोस्वामीजी ने चार संवादों की योजना की है और उनको चार घाटों का रूप देते हुए उन्हें बुद्धि और विवेक का परिणाम कहा है। अस्तु, हम देखते हैं कि गोस्वामीजी का अभीष्ट, चौथा संवाद, स्वतः उनके संवाद के अतिरिक्त और कोई अन्य संवाद हो नहीं सकता। प्रश्न उठ सकता है कि इस संवाद का वक्ता कौन है और वह किसे रामचरित-मानस सुना रहा है। श्रोताओं के संबंध में गोस्वामीजी ने मानस की भूमिका में कहा है कि 'श्रोता त्रिविध' हैं, पर कहीं इस बात का निर्देश नहीं किया कि उनके 'त्रिविध श्रोता' का प्रयोजन क्या है। हमारी धारणा है कि इन श्रोताओं को मानस में जो रूप दिया गया है वह त्रिविध है। इस त्रिविध के अंतर्गत भरद्वाज, पार्वती और गरुड़ हैं। मानस का चतुर्थ श्रोता तो इन सबसे अलग है। जब हम चतुर्थ संवाद का वक्ता स्वयं गोस्वामीजी को मान लेते हैं और उनके स्वांतःसुखाय पर ध्यान देते हैं तब हमारे हृदय में भावना उठती है कि हो न हो मानस का चतुर्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रोता गोस्वामीजी का मन है। मन रामचरित-मानस को सुनने के लिये तत्पर नहीं है। वह नाना प्रकार के योग-भोग में मग्न है और हेतुवाद या तर्क-वितर्क के आधार पर अनेक पंथों की कल्पना कर रहा है। गोस्वामीजी उसी को समझा रहे हैं और बार बार उससे आग्रह करते हैं कि वह उस राम को क्यों नहीं भजता जिसकी कथा भरद्वाज, पार्वती और गरुड़ जैसे व्यक्ति कितने मनोयोग और श्रम के साथ सुन रहे हैं। गोस्वामीजी ने समाज और जाति को अपना श्रोता नहीं बनाया। सीधे-सादे ढंग से उन्होंने अपने मन को कोसा और उसे सुझा दिया कि राम-कथा से स्वार्थ तथा परमार्थ दोनों ही बन जाते हैं। गोस्वामीजी ने जनता से इस बात का दुराग्रह नहीं किया कि उनके पास 'समरथ का परवाना' है और वे 'अलख' की प्रेरणा से उसको संदेश सुना रहे हैं। उन्होंने अधिकारी भक्तों से यही कहा कि रामचरित-मानस के अवगाहन से भव-बंधन अथवा त्रय-ताप नहीं रह जाता। मन के सामने उन्होंने उस आलंबन को रख दिया जिसमें अनंत शील, अनंत शक्ति और अनंत सौंदर्य है। उस रामचरित को दिखाकर, जिसमें भगवान् की भक्त-वत्सलता का निरूपण किया गया है, गोस्वामीजी ने व्यक्ति क्या जाति के मन को दिखा दिया कि उसका मंगल इसी में है कि वह रामचरित-मानस का अवगाहन अथवा राम का गुण-गान करे। अस्तु, हमको मानना पड़ता है कि गोस्वामीजी का श्रोता उनका मन है और वे उसी से दृढ़ता के साथ कह रहे हैं कि "पाई न गति केहि पतित-पावन राम भजु सुनु सठ मना।" गोस्वामीजी के संवाद का उपसंहार ही रामचरितमानस का उपसंहार समझना चाहिए। कारण, इसी से उसका आरंभ हुआ था।

रामचरित-मानस के संवादों के संबंध में अब तक जो कुछ कहा गया उससे न तो उनके रहस्य का अच्छी तरह उद्घाटन हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सका और न उनकी अलग अलग विशेषताओं का भली-भाँति प्रकाशन। अस्तु, हमें अब कुछ इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि इन संवादों का मर्म ठीक ठीक हमारी समझ में आ जाय। यह तो हमने देख ही लिया है कि रामचरित-मानस की रचना भक्ति-निरूपण के लिये हुई है। परंतु यह बात अभी तक स्पष्ट न हो सकी कि गोस्वामीजी को भक्ति-निरूपण की आवश्यकता क्यों पड़ी और उन्होंने किस राम की भक्ति का निरूपण किया। बात यह है कि कबीर आदि संतों को खंडन करने की बुरी लत पड़ गई थी। किसी तथ्य के स्वरूप से अपरिचित होते हुए भी स्वयंभू संत निर्गुण और योग की ओट में जिस अलख की झलक दिखा रहे थे उसकी मीमांसा की आवश्यकता उन्हें नहीं पड़ती थी। उनका काम इतने ही से चल जाता था कि जनता के सामने कुछ चमत्कार दिखाकर कुछ पहेलियों के आधार पर पंडितों को ललकार दें और वेद-पुराण की निंदा कर अपने पांडित्य का प्रदर्शन करें। उनका मन यहाँ तक बढ़ गया था कि वे अपने सामने किसी को कुछ समझते ही नहीं थे और कुछ न जानते हुए भी यही चिल्लाया करते थे कि 'दशरथ-सुत तिहुँ लोग बखाना, राम-नाम को मरम है आना'। इन भलेमानुसों का ध्यान कभी इस बात पर नहीं जाता था कि उस 'आना मर्म' से भक्ति का क्या संबंध है और हम उसे क्यों राम के रूप में ही प्रतिपादित करना चाहते हैं। अतएव गोस्वामीजी के लिये यह अनिवार्य हो गया कि वे एक व्यवस्थित रूप में इस 'आना' के काने ज्ञान को दूसरी भी आँख दे दें और जनता को स्पष्ट दिखा दें कि राम का प्रसार भीतर से कहीं अधिक बाहर है। राम दशरथ का सुत भी है, विष्णु भी है और है वह परब्रह्म का साक्षात् स्वरूप। राम को निर्गुण समझ लेना आसान है। उसके लिये विशेष प्रतिभा अपे-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्त नहीं होती। जानना तो सगुण का कठिन है। सगुण को किसी प्रकार यदि समझ भी लिया जाय तो इस सृष्टि-प्रसार अथवा नाना चरित के लिये क्या कहा जाय जिसे सुनकर मुनिजन भी भ्रम में पड़ जाते हैं। निदान गोस्वामीजी ने दावे के साथ कहा "निर्गुन-रूप सुलभ अति सगुन न जानहिं कोइ, सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि-मन भ्रम होइ।" गोस्वामीजी ने इसी मुनि-मन भ्रम करनेवाले चरित को चुना और रामचरित-मानस में उसी भ्रम का निवारण किया। शंकरजी ने गरुड़ से स्पष्ट कह दिया कि संशय का नाश किसी छूमंतर से नहीं हो सकता। इसके लिये "तबहिं होइ सब संसय भंगा, जब बहु काल करिअ सतसंगा। सुनिअ तहाँ हरिकथा सुहाई, नाना भाँति मुनिन्ह जो गाई। जेहि महँ आदि मध्य अवसाना, प्रभु प्रतिपाद्य रामु भगवाना॥ नित हरिकथा होति जहँ भाई, पठवौं तहाँ सुनहु तुम्ह जाई। जाइहि सुनत सकल संदेहा, राम-चरन होइहि अति नेहा॥" कहने की आवश्यकता नहीं कि रामचरित-मानस में ही आदि, मध्य, अवसान क्या सर्वत्र राम प्रभु प्रतिपादित किए गए हैं और यही गोस्वामीजी का इष्ट विषय है।

यह तो निश्चित हो गया कि गोस्वामीजी ने रामचरित-मानस में भक्ति का निरूपण और राम के प्रभुत्व का प्रतिपादन किया है। अब थोड़ा यह भी विचारना चाहिए कि गोस्वामीजी को संवादों की उद्भावना से इस क्षेत्र में सहायता क्या मिली है। सर्वप्रथम याज्ञवल्क्य और भरद्वाज के प्रसंग को लीजिए। भरद्वाज के संबंध में गोस्वामीजी का कथन है "भरद्वाज मुनि बसहिं प्रयागा, तिनहिं रामपद अति अनुरागा। तापस सम-दम-दया-निधाना, परमारथपथ परम सुजाना॥" इस कथन से स्पष्ट है कि भरद्वाज तत्त्वज्ञानी भक्त थे और उनके आश्रम में मुनि लोग "ब्रह्म-निरूपन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म-विधि बरनहिं तत्त्व-विभाग, कहहिं भगति भगवंत कै संजुत-ग्यान-विराग।" एक दिन "जागबलिक मुनि परम विवेकी, भरद्वाज राखे पद टेकी।...करि पूजा मुनि सुजसु बखानी, बोले अति पुनीत मृदु बानी। नाथ एक संसउ बड़ मोरें, करगत बेदतत्त्व सब तोरें। कहत सो मोहि लागत भय लाजा, जौ न कहौं बड़ होइ अकाजा।" आदि बड़ी लंबी चौड़ी भूमिका के उपरांत उन्होंने याज्ञवल्क्य से पूछ ही तो दिया "राम कवनु प्रभु पूछौं तोहीं, कहिअ बुझाइ कृपानिधि मोहीं। एक राम अवधेस-कुमारा, तिन्ह कर चरित बिदित संसारा। नारि-बिरह दुखु लहेउ अपारा, भएउ रोषु रन रावन मारा। प्रभु सोइ राम कि अपर कोइ, जाहि जपत त्रिपु-रारि। सत्यधाम सर्बग्य तुम्ह कहहु बिबेकु बिचारि।" याज्ञ-वल्क्य ताड़ गए कि भरद्वाज राम-चर्चा चाहते हैं। उन्होंने प्रसन्न चित्त से कहा "चाहहु सुनै रामगुन गूढ़ा, कीन्हहु प्रश्न मनहुँ अति मूढ़ा। तात सुनहु सादर मन लाई, कहौं राम कै कथा सुहाई। ऐसेउ संसय कीन्ह भवानी, महादेव तब कहा बखानी।" इस प्रकार हम देखते हैं कि याज्ञवल्क्यजी ने भरद्वाजजी के संशय के नाश के लिये शंकर और पार्वती का प्रसंग छेड़ दिया और भरद्वाजजी के प्रश्न का समाहार पार्वतीजी के प्रश्न में कर दिया।

पार्वतीजी का प्रश्न भरद्वाजजी के प्रश्न से कहीं अधिक व्यापक और गहन है। पार्वतीजी ने जान-बूझकर शंकरजी को नहीं छेड़ा था। उनको राम का रहस्य कुछ भी मालूम न था। जब शंकरजी ने विरही राम का अभिवादन किया और उनके प्रेम में मग्न हो गए तब पार्वती के मन में कई प्रकार के तर्क उठने लगे—"शंकर जगतबंद्य जगदीसा, सुर नर मुनि सब नावत सीसा। तिन्ह नृपसुतहिं कीन्ह परनामा, कहि सच्चिदानंद परधामा॥ भए मगन छबि तासु बिलोकी, अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी। ब्रह्म-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद; सो कि देह धरि होइ नर, जाहि न जानत वेद ?" पार्वतीजी की समझ में यह बात न आ सकी कि परब्रह्म अवतार धारण कर सकता है। जब उनका ध्यान विष्णु की ओर गया और उन्होंने विचार किया कि शायद भोलानाथ ने उन्हीं का अवतार समझकर राम का अभिवादन कर लिया हो तब भी उनका चित्त शांत न हुआ। उन्होंने मन ही मन में कहा "विष्णु जो सुरहित नरतनु-धारी, सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी। खोजै सो कि अग्य इव नारी, ग्यान-धाम श्रीपति असुरारी॥" सती के इन प्रश्नों का समाधान न हो सका। शंकरजी ने उनके छल को देखकर उन्हें त्याग दिया और समय पाकर पार्वती के रूप में वे उनकी पत्नी हुईं। सती के रूप में उन्हें जिस अज्ञान का कटु अनुभव हुआ था वे उस अज्ञान को नष्ट करना चाहती थीं और राम के स्वरूप को अच्छी तरह समझकर तब कुछ और प्रसंग छेड़ना चाहती थीं। शंकरजी को शांत देखकर उनसे उन्होंने प्रश्न किया "बिस्वनाथ मम नाथ पुरारी, त्रिभुवन महिमा बिदित तुम्हारी।...जौं मो पर प्रसन्न सुखरासी, जानिअ सत्य मोहि निज दासी। तौं प्रभु हरहु मोर अग्याना, कहि रघुनाथ-कथा बिधि नाना। तुम्ह पुनि राम राम दिन-राती, सादर जपहु अनंग-अराती। राम सो अवध-नृपति-सुत सोई, की अज अगुन अलख गति कोई ? जौं नृपतनय तो ब्रह्म किमि ? नारि-बिरह-मतिभोरि। देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥ जौं अनीह ब्यापक बिभु कोऊ, कहहु बुझाइ नाथ मोहिँ सोऊ। अग्य जानि रिस उर जनि धरहू, जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू।" पार्वती ने अनुनय-विनय में यहाँ तक कह दिया "जदपि जोषिता नहिं अधिकारी, दासी मन-क्रम-बचन तुम्हारी। गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिँ, आरत अधिकारी जहँ पावहिँ।" सारांश यह कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पार्वतीजी ने शंकरजी को रामचरित-मानस कहने के लिये तैयार कर लिया और शंकरजी उनके प्रश्नों के समाधान में दत्तचित्त हुए।

पार्वतीजी ने शंकरजी से प्रश्न किया "गरुड़ महाग्यानी गुन-रासी, हरि-सेवक अति निकट निवासी। तेहि केहि हेतु काग सन जाई, सुनी कथा मुनि-निकर बिहाई। कहहु कवन बिधि भा संवादा, दोउ हरिभगत काग उरगादा॥" शंकरजी ने उत्तर दिया "बंधन काटि गएउ उरगादा, उपजा हृदय प्रचंड बिषादा। प्रभु-बंधन समुझत बहु भाँती, करत बिचार उरग-आराती। ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा, माया-मोह-पार परमीसा। सो अवतार सुनेउँ जग माहीं, देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं॥ भवबंधन तें छूटहिं, नर जपि जाकर नाम। खर्ब निशाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम?.....तेहि मम पद सादर सिर नाबा, पुनि आपन संदेह सुनावा।.....सुनि ताकर बिनीत मृदु बानी, प्रेम सहित मैं कहेउँ भवानी।.....उत्तर दिसि सुंदर गिरि नीला, तहँ रह कागभुसुंडि सुसीला।.....जाइ सुनहु तहँ हरिगुन भूरी, होइहि मोह-जनित दुख दूरी।" शंकरजी के कथनानुसार गरुड़ काग के यहाँ गए। वहाँ जाते ही काग का उन पर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि उनका सारा संशय दूर हो गया और उन्होंने कागभुसुंडि से कहा "सुनहु तात जेहि कारन आएउँ, सो सब भएउ दरस तव पाएउँ। देखि परम पावन तव आस्रम, गएउ मोह संसय नाना भ्रम॥ अब श्रीराम-कथा अति पावनि, सदा सुखद दुख-पुंज-नसावनि। सादर तात सुनावहु मोही, बार बार बिनवौं प्रभु तोही।"

संवादों का जो संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया गया है उससे इतना तो स्पष्ट ही है कि गोस्वामीजी ने प्रत्येक संवाद की योजना किसी न किसी विशेष उद्देश्य से की है। यद्यपि प्रत्येक संवाद का प्रतिपाद्य विषय यही है कि दशरथ के पुत्र राम ही परब्रह्म हैं और उन्हीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की भक्ति का प्रतिपादन वेद-पुराण और संत करते हैं तथापि उसके प्रतिपादन की शैली से यह कहा जा सकता है कि किस संवाद का महत्त्व क्या है। गोस्वामीजी ने संवादों के प्रसंग में 'यथा-श्रुत', 'यथामति' और 'अनुभव' का उल्लेख बराबर किया है। यदि रामचरित-मानस की रचना शंकरजी ने की है तो रामचरित-मानस कागभुसुंडि और याज्ञवल्क्य के लिये यथाश्रुत हुआ। शंकरजी के लिये रामचरित श्रुत था, पर रामचरित-मानस तो उनके लिये यथामति था। 'मानस' केवल श्रुत नहीं, उनकी मति और अनुभव का भी परिणाम है। काग की भी मति रामचरित-मानस के अनुकूल ही है। उन्हें भी इस बात का अनुभव हो गया है कि राम-भक्ति से बढ़कर लोक-मंगल और परमार्थ-सिद्धि के लिये कोई अन्य साधन नहीं है। परंतु याज्ञवल्क्यजी न तो अपने अनुभव का नाम लेते हैं और न अपनी मति का पुष्ट उल्लेख करते हैं। इसका कारण हमारी समझ में यह है कि याज्ञवल्क्य और भरद्वाज का संवाद अन्य संवादों से बहुत कुछ भिन्न है। भरद्वाज को कभी राम के स्वरूप में सचमुच संदेह हुआ हो, इसका पता मानस से नहीं चलता। गोस्वामीजी ने भरद्वाज के संबंध में स्वतः लिख दिया है कि वे ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी राम-भक्त थे और सदा तत्त्व-चिंतन में लीन रहते थे। उनको न तो पार्वती की भाँति भ्रम के कारण एक जन्म का दुःख याद आ रहा था और न गरुड़ की भाँति संशय के कारण इधर-उधर भटकना पड़ा था। उन्होंने याज्ञवल्क्य के सामने संशय को तब पेश किया जब उन्हें पता चला कि याज्ञवल्क्यजी ब्रह्मवादी और परम विवेकी हैं। उनके हृदय में राम और ब्रह्म के स्वरूप में कुछ संशय न था। उन्होंने संशय की कल्पना इसलिये कर ली थी कि इस प्रकार प्रश्न करने से याज्ञवल्क्यजी अवश्य ही कुछ राम-चर्चा करेंगे। याज्ञवल्क्यजी ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भरद्वाजजी के मतलब को ताड़ लिया। उन्होंने स्पष्ट कहा "राम-भगत तुम्ह मन-क्रम-बानी, चतुराई तुम्हारि मैं जानी। चाहहु सुनै रामगुन गूढ़ा, कीन्हहु प्रश्न मनहुँ अति मूढ़ा॥" भरद्वाजजी ने इसका विरोध नहीं किया। याज्ञवल्क्यजी ने कथा को आरंभ किया। उन्होंने रामचरित न कहकर पहले शिवचरित कह दिया। भरद्वाजजी मनोयोग के साथ उसको सुनते रहे। याज्ञवल्क्यजी ने देख लिया कि भरद्वाजजी को रामचरित का रहस्य मालूम है। इनसे रामचरित-मानस कहने की आवश्यकता है। मानस को सुन लेने से ये फिर कभी इस प्रकार प्रश्न न करेंगे। उन्होंने भरद्वाज से कहा "प्रथमहिं मैं कहि सिवचरित बूझा मरमु तुम्हार। सुचि सेवक तुम्ह राम के रहित समस्त विकार॥ मैं जाना तुम्हार गुन-सीला, कहौं सुनहु अब रघुपति-लीला।" भरद्वाज तो जानते ही थे कि अवधेश-कुमार राम ही परब्रह्म हैं और याज्ञवल्क्य ने भी अच्छी तरह जान लिया कि भरद्वाज केवल रामचरित सुनना चाहते हैं। पर इतने से ही उनका समाधान तो हो नहीं सकता था। प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक था। निदान उन्होंने उमा और शंभु का संवाद सुना दिया जिसमें उक्त प्रश्न का परित: समाधान किया गया था। हो सकता है कि कुछ लोगों को हमारा यह कथन खटकता हो और वे याज्ञवल्क्य के कथन को भरद्वाज के प्रति शिष्टाचार समझते हों। परंतु थोड़ा विचार करने से स्पष्ट हो जायगा कि उनकी यह धारणा निराधार है। यदि भरद्वाज के हृदय में सचमुच कोई संदेह होता तो वे भी रामचरित-मानस को सुनकर याज्ञवल्क्य के प्रति अपनी कृतज्ञता का ज्ञापन करते और उनको विश्वास दिलाते कि उनका संदेह नष्ट हो गया। परंतु हम देखते हैं कि गोस्वामीजी ने इस संवाद का उपसंहार इस प्रकार कर दिया है कि भरद्वाज को कुछ कहने का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवसर ही नहीं दिया गया। याज्ञवल्क्य ने भरद्वाज से कह दिया "राम उपासक जे जग माहीं, एहि सम प्रिय तिनके कछु नाहीं" और इन मुनियों के संवाद का उपसंहार हो गया। भरद्वाज ने इसका कुछ उत्तर न दिया। अस्तु, हम कह सकते हैं कि याज्ञवल्क्य और भरद्वाज के संवाद की सबसे बड़ी विशेषता है उसके श्रोता की योग्यता। इस संवाद को तत्त्वज्ञानियों का मनोविनोद अथवा शुद्ध सत्संग कहना चाहिए।

याज्ञवल्क्य और भरद्वाज के प्रसंग में एक विचारणीय बात यह है कि इनके संवाद में शिवचरित की योजना की गई है। गोस्वामीजी ने रामचरित-मानस के आरंभ में ही शिवचरित का विधान कर यह सिद्ध कर दिया कि रामचरित का अधिकारी वही है जो शिवचरित का प्रेमी हो। जिसको शिवचरित न रुचा वह भला शिवरचित रामचरित-मानस का अवगाहन क्या करेगा और उसे इस बात का पता भी कैसे चलेगा कि तत्त्वतः राम और शिव में कोई भेद नहीं है। गोस्वामीजी ने कागभुसुंडि और गरुड़ के संवाद में भी इसी को पुष्ट किया है। परंतु उसमें वह बात नहीं आ पाई है जो याज्ञवल्क्य और भरद्वाज के संवाद में है। इसका कारण स्पष्ट है। याज्ञवल्क्यजी भरद्वाजजी की परीक्षा लेने के लिये शिवचरित कहते हैं, किंतु काग जी अपनी आत्म-कथा सुनाते समय यह दिखा देते हैं कि वास्तव में वही राम का प्रिय हो सकता है जिसे शिवजी प्रिय लगते हैं। सारांश यह कि गोस्वामीजी ने इन तत्त्वज्ञानियों के संवाद की योजना 'मानस' में इसलिये की कि हम राम और शिव के भेद को मिटा दें और देख लें कि जिस प्रकार परब्रह्म को लीला-विस्तार की आवश्यकता इसलिये पड़ती है कि वह अपने आनन्दस्वरूप का आनन्द उठा सके उसी प्रकार तत्त्वज्ञानियों को भी इस बात की ज़रूरत है कि वे उसके चरित का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवलोकन करें और उससे आनन्द उठाएँ। इस दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामीजी ने याज्ञवल्क्य और भरद्वाजजी के संवाद की योजना रामचरित-मानस में क्यों की और किस प्रकार उसके आधार पर सिद्ध कर दिया कि वास्तव में वही राम का सच्चा भक्त है जो शिव का भी सम्मान करता है और ज्ञान की चरमावस्था में भी रामचरित की अवहेलना नहीं करता; बल्कि उसी के गुण-गान में आनंद पाता है।

योगियों अथवा संतों के उपद्रवों का उत्तर गोस्वामीजी ने शिव-पार्वती-संवाद में दिया। भक्ति-मार्ग से शिव-पार्वती का क्या संबंध है इसका विवेचन यहाँ नहीं हो सकता। परंतु इतना तो निवेदन कर देना अनिवार्य हो गया है कि गोरख तथा कबीर का सारा दर्शन तंत्रशास्त्र पर अवलंबित है। 'हठयोग' और 'महारस' का सारा विधान तंत्रसाहित्य में भरा पड़ा है और तंत्र ही में शिव-पार्वती-संवाद की व्यवस्था भी है। पुराणों ने वहीं से इसको अपनाया है। तंत्रों के भक्ति-पक्ष को भागवतों ने किस प्रकार अपना लिया इसके परिशीलन की बड़ी जरूरत है। यहाँ तो अभी इतना ही कहना संगत जान पड़ता है कि गोस्वामीजी ने उसी चिरपरिचित शिव-पार्वती-संवाद में राम-भक्ति की प्रतिष्ठा की और यह दिखा दिया कि वास्तव में "तुम्ह जो कहा राम कोउ आना, जेहि स्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना। कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह-पिसाच, पाषंडी हरि-पद-विमुख जानहिं झूठ न साँच।.....मुकुर मलिन अरु नयन-विहीना, रामरूप देखहिं किमि दीना। जिनके अगुन न सगुन बिबेका, जल्पहिं कल्पित बचन अनेका। हरि-माया-बस जगत भ्रमाहीं, तिन्हहिं कहत कछु अघटित नाहीं।" कहने का तात्पर्य यह कि भक्ति-निरूपण की दृष्टि से यह संवाद बड़े ही महत्त्व का है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और इसी में गोस्वामीजी के अध्यात्म अथवा दर्शन का परिस्फुरण हुआ है।

सती के हृदय में जो संदेह उत्पन्न हो गया था वह बहुत कुछ आध्यात्मिक था। सती भली भाँति जानती थीं कि ब्रह्म और विष्णु के स्वरूप में भारी भेद है। उनकी समझ में विष्णु का अवतार संभव था, किंतु यह बात वे न समझ पाती थीं कि ब्रह्म भी नर-देह धारण कर सकता है। जब शंकरजी ने राम को सच्चिदानंद कहकर प्रणाम किया तब सती के हृदय में संदेह उठा। "ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद, सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत वेद।" सती को इतने से ही संतोष न मिला। उनका तर्क बढ़ता ही गया—"विष्णु जो सुरहित नर-तनु-धारी, सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी। खोजै सो कि अग्य इव नारी, ग्यान-धाम श्रीपति असुरारी॥" सती को कालचक्र के प्रभाव से पार्वती का रूप मिला, पर उनका संदेह बदस्तूर बना रहा। संदेह के निवारण के लिये एक दिन उन्होंने शंकरजी से बड़े अदब के साथ प्रश्न किया—"जौ नृप-तनय तो ब्रह्म किमि नारि-बिरह-मति भोरि, देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि?" पहले की अंतर्दशा से यह दशा बिल्कुल भिन्न थी। परंतु पार्वती की समझ में अब भी यह बात नहीं आती थी कि ब्रह्म नर होकर नर-चरित कर सकता है, यद्यपि अब उन्हें इस बात का बोध हो गया था कि यह उनके अज्ञान का परिणाम है। निदान उन्होंने प्रणिधान के आधार पर मोह-निवारण का साधु आग्रह किया। उनकी प्रपत्ति को देखकर शिवजी ने समझ लिया कि अब इन्हें राम-स्वरूप के जानने की सच्ची जिज्ञासा है। निदान वे उनके प्रश्नों का समाधान करने लगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पार्वती को इस बात का पता चल गया था कि परमार्थवादी मुनि राम को ही परब्रह्म कहते हैं और वेद-पुराण भी उसी राम का गुण-गान करते तथा स्वयं शंकरजी भी दिन-रात राम ही का नाम जपते हैं। अस्तु, उनके हृदय में अब यह प्रश्न था कि राम का वास्तविक स्वरूप क्या है। राम ब्रह्म हैं कि दशरथ के पुत्र हैं कि स्त्री के विरह में मारे मारे फिरनेवाले सामान्य व्यक्ति हैं अथवा सब कुछ वही हैं। पार्वतीजी के प्रश्नों के विश्लेषण से व्यक्त होता है कि उन्हें अवतारवाद में भी अंशतः आपत्ति थी। परब्रह्म का अवतार उनकी समझ में नहीं आता था। हम पहले ही कह चुके हैं कि शुद्ध दर्शन का निर्वाह 'मानस' जैसे रामचरित में नहीं हो सकता था। गोस्वामीजी अवतारवाद का प्रतिपादन एक काव्य-ग्रंथ में, शास्त्रीय पद्धति पर, कहाँ तक कर सकते थे। सच पूछिए तो उस समय अवतारवाद के प्रतिपादन की आवश्यकता भी न थी। कर्म-विपाक और जन्मांतर की प्रतिष्ठा के कारण अवतार कोई अजीब बात न थी। हिंदू-जनता के सामने पुनर्जन्म का पचड़ा गाना बेकार था। पार्वतीजी स्वयं अवतार के रूप में प्रतिष्ठित थीं। उन्हें अवतारवाद पर विश्वास था, पर उन्हें परब्रह्म के अवतार में संदेह उत्पन्न हो गया। शंकरजी ने उन्हें समझा दिया "अगुन अरूप अलख अज जोई, भगत-प्रेम-बस सगुन सो होई। जो गुन-रहित सगुन सोइ कैसें, जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें॥"

शंकरजी से पार्वतीजी तर्क करने नहीं बैठी थीं। उनको रामचरित सुनना था। वे जानती थीं कि राम बुद्धि के कठघरे में घेरकर नहीं समझे जा सकते। अतः उनको संतोष हो गया कि परब्रह्म नर-देह धारण कर नर-लीला कर सकता है। जब शंकरजी ने अच्छी तरह समझाकर उनके सामने स्पष्ट कर दिया कि "जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान, सोइ-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दसरथ-सुत भगत-हित कोसलपति भगवान" तब पार्वतीजी ने स्वीकार कर लिया कि "तुम्ह कृपाल सब संसउ हरेऊ, राम-सरूप जानि मोहिं परेऊ"। राम-स्वरूप को समझ लेने पर पार्वतीजी ने फिर प्रश्न किया "राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी, सर्ब-रहित सब-उर-पुर-बासी। नाथ धरेउ नर-तनु केहि हेतू, मोहिं समुझाइ कहहु बृषकेतू॥" पार्वती का यह प्रश्न बड़े ही महत्त्व का है। जब राम सबके हृदय में निवास करते हैं तब उन्हें शरीर धारण करने की क्यों आवश्यकता पड़ती है। बात यह है कि कबीर आदि संतों ने इस बात का घोर आग्रह किया था कि राम हृदय में बसते हैं। अतः हृदय के भीतर ही राम को झाँकना ठीक है। अस्तु, पार्वतीजी का भी प्रश्न है कि जब राम हृदय में बसते हैं तब उन्हें उसी में क्यों न देखा जाय। राम शरीर धारण कर हृदय के बाहर क्यों दिखाई देते हैं? शंकरजी ने इस बात का उल्लेख पहले ही कर दिया था कि अज्ञानवश लोग राम के स्वरूप को नहीं जान पाते। जिनका हृदय दर्पण की भाँति स्वच्छ नहीं है उनको राम का साक्षात्कार उसमें किस प्रकार हो सकता है। सच बात तो यह है कि हृदय में राम की धूम मचानेवाले संतों ने इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया कि यदि राम सबके हृदय में बसते हैं तो मानव-हृदय को किसी कबीर या गोरख की आवश्यकता किस लिये पड़ती है। तर्क की दृष्टि से क्या यह शुद्ध पाखंड नहीं है कि जो 'हंस-उबारने' के लिये आता और 'समरथ का परवाना' लाता है वही हिंदू-जनता से आग्रह करता है कि वह राम को हृदय के भीतर देखे और शरीरधारी राम को उस राम से सर्वथा भिन्न माने जिसे वह अपना पति समझता है? भला यदि कोई कबीर से पूछता कि जब राम सबके हृदय में निवास करते ही हैं तब आपको हमारे बीच में आने की आवश्यकता क्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ी और आपको क्यों किसी ने हमारे पास भेज दिया तब कबीर क्या जवाब देते। कबीर के अनुयायियों में इतनी बुद्धि न थी। पर गोस्वामीजी इस प्रश्न को महत्त्व का प्रश्न समझते थे। तभी तो उन्होंने इस प्रश्न का मानस में विधान किया और उसका शंकरजी से इस प्रकार समाधान भी करा दिया जो परंपरागत होने पर भी अपना अलग महत्त्व रखता है। शंकरजी ने पार्वती के प्रश्न का उत्तर दिया "जब जब होइ धरम कै हानी, बाढ़हिं असुर महा अभिमानी। करहिं अनीति जाइ नहिँ बरनी, सीदहिं बिप्र-धेनु-सुर-धरनी॥ तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा, हरहिँ कृपानिधि सज्जन पीरा।" यहाँ तक तो गीता का अनुवाद हुआ। इसके आगे अब तुलसीदास का मत समझिए। "असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज-श्रुति-सेतु, जग बिस्तारहिं बिसद जस, राम-जनम कर हेतु।" राम जन्म लेकर जिस विशद यश का विस्तार करते हैं उसकी उपयोगिता क्या है? इसका समाधान भी शंकरजी ने कर दिया है—"सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं, कृपासिंधु जन-हित तनु धरहीं।" राम के जन्म-ग्रहण करने और चरित करने का यही प्रयोजन है कि लोक-मर्यादा बनी रहे और भक्तों के लिये एक व्यवस्थित राजमार्ग बन जाय जिस पर चलने से उनके दोनों लोक सधें और कहीं भी आनंद और विनोद की मात्रा कम न हो।

शंकरजी ने राम के शरीर-ग्रहण का कारण तो कह दिया; किंतु उन्हें आशंका हो गई कि कहीं पार्वतीजी बाह्य को ही अधिक महत्त्व न दे बैठें। निदान उन्होंने कहा "हरि ब्यापक सर्बत्र समाना, प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना। देस-काल दिसि बिदिसिहु माहीं, कहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं! अग-जग-मय सब रहित बिरागी, प्रेम तें प्रभु प्रगटैं जिमि आगी।" राम ही नहीं, राम के उपासक भी उन्हीं के साथ मोक्ष के सुख को त्यागकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शरीर धारण करते हैं और उनके साथ लगे रहते हैं "निज इच्छा प्रभु अवतरै, सुर-महि-गो-द्विज लागि, सगुन-उपासक संग तहँ रहै मोच्छ-सुख त्यागि।"

पार्वतीजी के राम-संबंधी प्रश्नों का समाधान हो गया। उन्होंने राम के स्वरूप और उनके शरीर-धारण करने का रहस्य जान लिया। उनको इस बात का भी पता चल गया कि राम नर-लीला क्यों करते हैं। फिर भी उनकी समझ में यह न आ सका कि काग सा पक्षी भी भक्ति का अधिकारी ही नहीं हो सकता बल्कि खगपति के संशय का निवारण भी कर सकता है। शंकरजी ने कागभुसुंडिजी को इतना महत्त्व दे दिया था कि राम-जन्म का महोत्सव देखने के लिये उनके साथ मनुज-रूप में 'चोरी' से अयोध्या गए थे। पार्वतीजी काग के संबंध में कुछ जानना चाहती थीं। अतएव जब शंकरजी ने उनसे पूछा "उमा कहेउ सब कथा सुहाई, जो भुसुंडि खगपतिहिं सुनाई। कछुक रागगुन कहेउँ बखानी, अब का कहौं सेा कहहु भवानी।" तब उन्होंने अपने हृदय के भाव को स्पष्ट उनके सामने रख दिया और कहा "बिरति ग्यान बिग्यान दृढ़ रामचरित अति नेह; बायस तन रघुपति-भगति, मोहि परम संदेह।" पार्वतीजी का संदेह और भी बढ़ गया था। काग तेा राम-भक्ति का उपदेश दे और हरियान खगपति उसका श्रवण करे। अस्तु, उन्होंने शिवजी से पूछ ही तेा दिया "गरुड़ महाग्यानी गुनरासी, हरिसेवक अति निकट निवासी। तेहि केहि हेतु काग सन जाई, सुनी कथा मुनि-निकर बिहाई?"

कागभुसुंडि और गरुड़ के संवाद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्रजा वक्ता और राजा श्रोता है। इससे बढ़कर अजीब बात भला क्या होगी कि विष्णु के निकट रहनेवाला खगपति एक चांडाल पक्षी से राम-भक्ति की दीक्षा लेने जाय और उसके आश्रम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को देखते ही उसका भ्रम नष्ट हो जाय। पार्वतीजी को भी रामचरित देखकर मोह हुआ था। पर गरुड़जी का मोह सुनकर तो वे और भी विस्मय में पड़ गईं। उनके आश्चर्यमय प्रश्न का उत्तर शंकरजी ने दे दिया। उन्होंने कहा "जब रघुनाथ कीन्ह रन-क्रीड़ा, समुझत चरित होत मोहि व्रीड़ा। इंद्रजीत कर आपु बँधायो, तब नारद मुनि गरुड़ पठायो॥ बंधन काटि गएउ उरगादा, उपजा हृदय प्रचंड विखादा। प्रभु-बंधन समुझत बहु भाँती, करत विचार उरग-आराती॥ व्यापक ब्रह्म विरज बागीसा, माया-मोह-पार परमीसा। सो अवतार सुनेउँ जग माहीं, देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं॥ भव-बंधन तें छूटहिं नर जप जाकर नाम। खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम॥ नाना भाँति मनहिं समुझावा, प्रगट न ग्यान हृदय भ्रम छावा। खेदखिन्न मन तर्क बढ़ाई, भएउ मोहबस तुम्हरिहि नाईं॥" गरुड़ भी पार्वती की तरह रामचरित को देख मोह में पड़ गए और नाना प्रकार के तर्क करने लगे। नारद, ब्रह्मा आदि के यहाँ से लौटकर खगराज शंकरजी के पास चले। शंकरजी ने भी उनका समाधान नहीं किया। "मिलेउ गरुड़ मारग महँ मोही, कवन भाँति समुझावौं तोही" कहकर उनको कागभुसुंडिजी के पास भेज दिया। पार्वतीजी की समझ में यह बात नहीं आई कि शंकर सा राम का भक्त किसी राम-भक्त को इस प्रकार क्यों टाल देता है। यह देखकर शंकरजी ने उनका समाधान करते हुए कहा "मैं जब तेहि सब कहा बुझाई, चलेउ हरषि मम पद सिरु नाई। तातें उमा न मैं समुझावा, रघुपति कृपा मरमु मैं पावा। होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना, सो खोवा चह कृपा-निधाना॥" खगपति राम के सेवक थे। उन्हें इस बात का अभिमान हो गया था कि उन्होंने प्रभु का उद्धार किया। यही कारण था कि प्रभु ने उनके हृदय में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ ऐसी प्रेरणा की कि शंकरजी से अनुरोध न कर वे कागभुसुंडि के पास चल पड़े। कागभुसुंडिजी ने गरुड़ का आदर-सत्कार करते हुए कहा "नाथ कृतारथ भएउँ मैं, तव दरसन खगराज। आयसु देहु सो करौं अब, प्रभु आएहु केहि काज ?" खगपतिजी ने उत्तर दिया "देखि परम पावन तव आस्रम, गएउ मोह संसय नाना भ्रम। अब श्रीराम-कथा अति पावनि, सदा सुखद दुख-पुंज-नसावनि। सादर तात सुनावहु मोही, बार बार बिनवौं प्रभु तोही।" रामचरित सुनने के उपरांत गरुड़जी ने काग से कहा "गएउ मोर संदेह, सुनेउँ सकल रघुपति-चरित; भएउ राम-पद-नेह, तव प्रसाद बायसतिलक।" अब उन्होंने अपने संदेह का भी स्पष्टीकरण कर दिया—"मोहि भएउ अति मोह प्रभु-बंधन रन महँ निरखि, चिदानंद-संदोह रामु बिकल कारन कवन! देखि चरित अति नर अनुसारी, भएउ हृदय मम संसय भारी। सोइ भ्रम अब हित करि मैं जाना, कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना॥ जो अति आतप ब्याकुल होई, तरु-छाया सुख जानै सोई। जौं नहिँ होत मोह अति मोही, मिलतेउँ तात कवन बिधि तोही ?" कागभुसुंडिजी ने गरुड़ से निवेदन किया "तुमहिँ न संसय मोह न माया, मो पर नाथ कीन्ह तुम्ह दाया। पठै मोह-मिस खगपति तोही, रघुपति दीन्हि बड़ाई मोही॥..... मायाबस मतिमंद अभागी, हृदय जवनिका बहु बिधि लागी। ते सठ हठ-बस संसय करहीं, निज अग्यान राम पर धरहीं॥" अस्तु, कागभुसुंडिजी ने स्पष्ट कर दिया कि रामचरित का उद्देश्य है कि भक्तों को बड़ाई मिले और लोग राम-भक्ति का आनंद उठा सकें। प्रमाण के लिये उन्हें अन्यत्र जाने की आवश्यकता न पड़ी। उन्होंने अपनी कथा कह दी। उन्हें भी राम-चरित देखकर मोह हो गया था—"रूपरासि नृप-अजिर-बिहारी, नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मो सन करहिं बिबिध बिधि क्रीड़ा, बरनत चरित होति मोहि ब्रीड़ा ॥ किलकत मोहि धरन जब धावहिं, चलौं भागि तब पूप दिखावहिँ। आवत निकट हँसहिं प्रभु, भाजत रुदन कराहिं। जाउँ समीप गहन पद, फिरि फिरि चितै पराहिं ॥ प्राकृत सिसु इव लीला देखि भएउ मोहि मोह। कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंद-संदोह ?"

कागभुसुंडि के मोह का निवारण जिस प्रकार हुआ उसको रामचरित-मानस के पाठक जानते ही हैं। उसके कहने की आवश्यकता नहीं। प्रसंगवश यहाँ इतना कहे देते हैं कि कागभुसुंडि को काग-शरीर इसी लिये बहुत प्रिय था कि उसी में उनको राम-भक्ति मिली थी। फिर भी कागजी को राम-चरित देखकर मोह हो गया। इस मोह को देखकर गरुड़जी और पार्वतीजी को व्यक्त हो गया कि वास्तव में राम-चरित ही आनंद का विधायक है। राम-चरित का आनंद न ले जो उसकी मीमांसा में मग्न होता है वह संदेह-सागर में डूब जाता है और प्रणिधान तथा राम के प्रसाद के बिना उसका उद्धार किसी अन्य उपाय से नहीं होता। कागभुसुंडि ने गरुड़ के सामने यह प्रत्यक्ष कर दिया कि मर्यादा का पालन और भक्तों का निर्वाह राम कितनी सावधानी और तत्परता से करते हैं। उन्होंने दिखा दिया कि राम का यह दावा कितना सटीक है "भगतिवंत अति नीचउ प्रानी, मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी। ..... पुरुष नपुंसक नारि नर जीव चराचर कोइ, भगति भाव भजि कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ।" इस प्रकार हम देखते हैं कि गोस्वामीजी ने कागभुसुंडि और गरुड़ के संवाद में राम-चरित की महिमा का निदर्शन किया है और पार्वतीजी के उस प्रश्न पर प्रकाश डाला है जो उन्होंने राम-चरित के संबंध में शंकरजी से पूछा था। राम के नर-लीला करने का उद्देश्य है कि नर राम में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपना रूप देख सके और अपने हृदय का तादात्म्य उनके हृदय के साथ स्थापित कर सके।

कागभुसुंडि ने भक्ति का निरूपण बड़ी तत्परता से किया। यदि भक्ति के स्वरूप से परिचित होना हो तो कागभुसुंडि और गरुड़ के संवाद पर ध्यान देना चाहिए। गोस्वामीजी ने जिस आदर्श संत-मत का प्रतिपादन किया है वह यही संत-मत है। कागभुसुंडिजी ने गरुड़जी से स्वत: कहा है "राम अमित-गुन-सागर थाह कि पावै कोइ। संतन्ह सन जस कछु सुनेउँ तुम्हहिँ सुनाएउँ सोइ।" काग का समय केवल राम-गुण-गान में व्यतीत होता था। जब शंकरजी सती के वियोग से दुखी हो रहे थे तब मराल के रूप में उन्होंने कागभुसुंडि के यहाँ निवास किया था और वहीं उनको विशेष आनंद मिला था। ऐसे महात्मा संत की चर्या थी "पीपर तरु तर ध्यान जो धरई, जाप जग्य पाकरि तर करई। आमछाँह कर मानस पूजा, तजि हरि-भजनु काजु नहिं दूजा॥ बर तर कह हरि-कथा प्रसंगा, आवहिँ सुनहिँ अनेक बिहंगा। रामचरित बिचित्र बिधि नाना, प्रेम सहित कर सादर गाना॥ सुनहि सकल मति बिमल मराला, बसहिँ निरंतर जो तेहि ताला।" काग की इस चर्या में विचारणीय बात यह है कि उसमें जप-यज्ञ और ध्यान का भी विधान है। काग ने जो कुछ गरुड़जी से कहा उसके संबंध में उनका कथन है "निज मति-सरिस नाथ मैं गाया, प्रभु-प्रताप-महिमा खगराया। कहेउँ न कछु करि जुगुति बिसेखी। यह सब मैं निज नयन्हनि देखी॥" कागभुसुंडिजी का अनुभव तो यह है "निज अनुभव अब कहौं खगेसा, बिनु हरि-भजन न जाहिं कलेसा।" निष्कर्ष यह कि जिस संत-मत के नाम पर जनता गुमराह हो रही थी उसका खंडन कर गोस्वामीजी ने जिस व्यवस्थित संत-मत का प्रतिपादन किया वह यही कागभुसुंडि का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संत-मत है। इसमें यह दिखा दिया गया है कि भक्ति का अधिकारी प्राणिमात्र है। पर वास्तव में भक्त वही है जो वर्ण-व्यवस्था अथवा धर्म की मर्यादा का ध्यान रखता है। जो धर्म-द्रोही है, वेद-पुराण की निंदा करता है, वह वस्तुतः भक्त नहीं और चाहे जो कुछ हो। "जौं नहिं दंड करौं खल तोरा, भ्रष्ट होइ श्रुति-मारग मोरा" में इसी तथ्य का निदर्शन किया गया है। परंतु इसमें किसी को नीच कह उसका अपमान नहीं किया गया है। इसका सबसे दृढ़ प्रमाण यह है कि कागभुसुंडिजी को भक्ति-प्रभाव के कारण काग-तन अत्यंत प्रिय है और खगराज के समान स्वच्छ पक्षी उसी चांडाल काग से भक्ति का स्वरूप समझता है। निदान कागभुसुंडि और गरुड़ का संवाद संत-मत-प्रतिपादन की दृष्टि से मानस में रखा गया और फलतः जनता के सामने भक्ति का श्रुति-प्रतिपादित रूप अत्यंत मनोरम रूप में आ गया।

उक्त संवादों के विषय में अब तक जो कुछ कहा गया उसमें हमने देख लिया कि याज्ञवल्क्य और भरद्वाज का संवाद तत्त्वज्ञानी मुनियों का संवाद है जो धर्म और शास्त्र के नाना अंगों पर विचार करते करते जब श्रांत हो जाते हैं तब मनोविनोद के लिये कुछ राम-चर्चा भी कर लेते हैं और हमारे सामने यह स्पष्ट कर देते हैं कि ज्ञानियों को भी राम-चरित अत्यंत प्रिय होता है। शिव-पार्वती-संवाद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके वक्ता और श्रोता गृहस्थ अथवा पति-पत्नी हैं जो देवता अथवा उपास्य होते हुए भी रामोपासक के रूप में हमारे सामने आते हैं और हमें रामभक्ति के साथ ही साथ राम-स्वरूप का भी बोध करा जाते हैं। तीसरे संवाद के संबंध में हम कह ही चुके हैं कि उसका वक्ता चांडाल प्रजा और श्रोता हरियान राजा है और उसमें निरूपण किया गया है श्रुति-प्रतिपादित भक्ति का। कहने का तात्पर्य यह कि गोस्वामीजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने प्रत्येक संवाद की योजना किसी दृष्टि-विशेष को सामने रखकर ही की है। रामचरित-मानस के प्रत्येक वक्ता 'यथाश्रुत', 'यथा-मति' एवं 'अनुभव' के आधार पर ही रामचरित का निदर्शन करते हैं और इस बात पर विशेष ध्यान रखते हैं कि उनका कथन वेद, पुराण और संत-मत के अनुकूल हो। यद्यपि मानस के प्रत्येक वक्ता का ध्यान भक्ति के इन तीनों स्रोतों पर है और प्रत्येक वक्ता उनकी त्रिवेणी का रस-पान करा रहा है, तथापि याज्ञवल्क्य वेद, शिव पुराण एवं कागभुसुंडि संत-मत के अधिष्ठाता हैं। रही गोस्वामी तुलसीदास की बात। वे तो समय से लाभ उठानेवाले जीव ठहरे। उनका आग्रह है कि जब वेद, पुराण, संत सभी रामचरित का गुणगान करते हैं तब हम पामर प्राणियों को उसमें क्यों आपत्ति होनी चाहिए। जब पार्वती का भ्रम मिट गया और उनके हृदय में भी राम की दृढ़ भक्ति उत्पन्न हो गई, जब गरुड़ का भी संशय नष्ट हो गया और उनकी भी राम में नवीन रति हो गई तब हम आप राम का गुण-गान क्यों न करें। यदि आपके हृदय में इस बात का संदेह हो कि आप न तो पार्वती के समान देवता हैं और न गरुड़ के समान हरियान तो आपका यह संदेह बिलकुल निराधार है। आप तुलसी को ही क्यों नहीं देखते जो—"जाकी कृपा-लव-लेस तें मतिमंद तुलसीदासहूँ, पाएउ परम बिस्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ"—राम की तनिक सी कृपा के प्रभाव से परम विश्राम को प्राप्त हो गया। अतएव "रामहिं सुमिरिअ गाइअ रामहिं, संतत सुनिअ राम-गुन-ग्रामहिं। जासु पतित-पावन बड़ बाना, गावहिं कवि-स्रुति-संत-पुराना; ताहि भजहिँ मन तजि कुटिलाई, राम भजे गति के नहिं पाई?।"

रामचरित-मानस के संवादों के सिंहावलोकन में संक्षेपतः हम कह सकते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास ने बहुत सोच-समझकर ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन संवादों की योजना रामचरित में की है। रामचरित-मानस में इन संवादों के अतिरिक्त और क्या है जो इसे अन्य रामायणों से अलग करता और इतना हृदयग्राही बना देता है? हम यह नहीं कहते कि रामचरित-मानस की प्रबंध-रचना अथवा गोस्वामीजी की काव्य-कौमुदी लोगों के हृदय में अमृत-वर्षा नहीं करती। नहीं, हमारा तात्पर्य यह कदापि नहीं है। हमारे कहने का सीधा-सादा अर्थ तो यह है कि संवाद ही रामचरित-मानस के मर्म और गोस्वामीजी के हृदय के दूत हैं। यदि आप उनकी अवहेलना करते ही जायँगे तो आप 'मानस' का अवगाहन कर वृप्त भले ही हो लें पर आप गोस्वामीजी के मानस को समझ नहीं सकते और साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में आप उनके हृदय की छीछालेदर अवश्य करेंगे। क्या ही अच्छा होता, यदि हिंदी-साहित्य के मर्मज्ञ 'मानस' के रहस्य को समझ लेते और तब फिर रामचरित-मानस की आलोचना कर उसकी नवीनता को महत्त्व देते। आशा' ही नहीं, दृढ़ विश्वास है कि जो लोग संवादों की विशेषताओं को सामने रखकर, प्रसंग पर ध्यान रखते हुए, उसके स्थलों की मीमांसा करेंगे उनको स्पष्ट अवगत हो जायगा कि गोस्वामीजी किसी भी रूप में 'घातक' नहीं कहे जा सकते। यदि घातक हैं भी तो लोलुप, व्यसनी और पाषंडियों के पाषंड के; उनके कदापि नहीं। कविकर्म के भक्तों और साम्यवाद के पट्ठों को एक बार इस दृष्टि से भी रामचरित-मानस का अध्ययन कर लेना चाहिए। यदि फिर भी उनको शांति न मिले तो गोस्वामीजी का यह पद स्मरण करें "जे स्रद्धा-संबल-रहित नहिं संतन्ह कर साथ, तिन्ह कहँ मानस अगम अति, जिनहिं न प्रिय रघुनाथ।" यदि इतने पर भी संतोष न मिले तो समझ लें कि "सकल पदारथ एहि जग माहीं, करम-हीन नर पावत नाहीं।" हमें तो ऐसे कर्म-हीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नर नहीं दिखाई देते जो मानस का अवगाहन कर राम-रस न चखें और अपने जीवन को सदैव फीका बनाए रहें। औरों की बात हम नहीं कहते; स्वयं गोस्वामीजी ने इसे 'सुरसरि-सम सब कहँ हित होई' कहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६) भारतवर्ष के साम्राज्य-काल का एक संस्कृत इतिहास*

(७०० ई० पू० से ७७० स० ई० तक)

[लेखक—रायबहादुर श्री वैजनाथ पंड्या, काशी]

सन् १९२५ ई० में त्रावणकोर के म० म० गणपति शास्त्री ने एक नए संस्कृत ग्रंथ को ढूँढ़ निकाला। उसका नाम है आर्य-मंजूश्री-मूलकल्प। यह महायान बौद्ध-संप्रदाय का ग्रंथ है। भदंत राहुल सांकृत्यायन को, उनकी तिब्बत की यात्रा में, इसी ग्रंथ का वहाँ की भाषा में भाषांतर मिला जिसे वे ले आए हैं। इन दोनों ग्रंथों के आधार पर जायसवाल महाशय ने मूल संस्कृत को अपनी उत्तम टीका सहित छापा है। आदि में यह ग्रंथ बंगाल में लिखा गया था और इसके लिखने का काल लगभग सन् ८०० ई० के अनुमानित होता है। पंडित कुमारकलश ने सन् १०६० ई० के लगभग उसका भाषांतर तिब्बती भाषा में किया। इस ग्रंथ के तृतीय खंड के ५३वें अध्याय में भारतवर्ष के साम्राज्य-काल के सम्राटों का इतिहास भगवान् बुद्ध के मुख से भविष्यकाल में कहलाया गया है। भगवान् बुद्ध प्रत्येक सम्राट् के जीवन-काल का वर्णन करके मरणपश्चात् उसके स्वर्ग और नरक जाने का भी वर्णन

---

* An Imperial History of India in a Sanskrit Text with a commentary on later Gupta Period with translation and comments.

[c. 700 Bc—c. 770 A. D.] By K.P. Jaiaswal Rs. 8. The Punjab Sanskrit Book Depot, Lahore.]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हैं। इसकी भाषा गाथा संस्कृत में है और इस कारण कुछ क्लिष्ट है। सम्राटों के पूरे पूरे नामों के बदले कई स्थानों में उनके नाम के प्रथम अक्षर मात्र ही दिए गए हैं; जैसे हर्षवर्धन के लिये ह, राज्यवर्धन के लिये रा और स्कंदगुप्त के लिये स। इससे कहीं कहीं नाम समझने में विशेष कठिनाई पड़ जाती है। पर इसमें कुछ नई सामग्री मिलती है, जैसे विष्णुवर्द्धन और उसका एक पुत्र, कुछ मौखरी नाम और वल्लभी के दो सम्राट्।

शुंग और कुशन काल के पीछे यह लेखक अपने इतिहास को अलग अलग खंडों में वर्णन करता है; जैसे—उत्तर दिग् का—पाश्चात्य देश का—मध्य देश का, दक्षिण दिग् का—द्वीपेषु—पूर्व दिग् का और मध्य देश का।

इस इतिहास-विभाग में लगभग १००५ श्लोक हैं। प्रथम ३४४ श्लोकों में भगवान् बुद्ध अपने निर्वाण तक का अपना चरित्र वर्णन करते हैं। ३४५वें श्लोक से ९३२वें श्लोक तक इतिहास का वर्णन है। पर इसमें कहीं कहीं राजाओं के मंत्र-तंत्र आदि का भी वर्णन आ गया है। इसको छोड़ देने पर भी कोई ३०० श्लोकों में केवल इतिहास की सामग्री ही है। इस लेखक ने अपने इतिहास के लिये सन् ७८ ई० से सन् ७७० ई० तक की पूर्ण और विश्वसनीय सामग्री, कोई तीन जुदे जुदे ग्रंथों से, संग्रह की है।

कौशांबी के उदयन को क्षत्रिय-श्रेष्ठ लिखा है। कालाशोक और मौर्य धर्माशोक मिला देने में लेखक ने भूल की है। कालाशोक नंद प्रथम अथवा नंदवर्द्धन बुद्ध से १०० वर्ष पीछे हुआ। उसने बौद्ध-धर्म के नेताओं की द्वितीय बैठक कराई। ई० पू० ७२७ के लगभग वाराणसी का राजा ब्रह्मदत्त सम्राट् था। यह पद उसके पीछे दो पुश्त तक और चला। इसी वंश के धृतराष्ट्र को कौशांबी के शतानीक (उदयन के पिता) ने हराया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। इसके पूर्व कोशल के तीन राजाओं के वाराणसी के ऊपर चढ़ाई करने का वर्णन जातकों में लिखा है। बुद्ध के जीवन-काल में मगध सम्राट् पद के लिये प्रयत्न कर रहा था और अंत में उसने कोशल को दबा दिया।

कालाशोक अथवा विशोक, जिसके समय में बौद्धधर्म की द्वितीय बैठक हुई थी, जायसवाल महाशय के मतानुसार, पुराणों का नंदिवर्द्धन है। उसके उत्तराधिकारी महानंद को यहाँ शूरसेन के नाम से लिखा है। इसके पीछे "नीचमुख्य" महापद्मनंद हुआ जो इस ग्रंथ में शुरू में शूरसेन का मंत्री बताया गया है। इसका मंत्री वररुचि था और मित्र पाणिनि। इसके समय में ब्राह्मण धर्म की उन्नति हुई और ब्राह्मणों की सत्ता बढ़ी। मंत्रिगण इस राजा से असंतुष्ट और विरक्त थे; पर राजा की मृत्यु बुढ़ापे में बीमारी से हुई। पाणिनि का वर्णन महत्त्व का है। इस ग्रंथ के आधार पर उनका काल ३६६-३३८ ई० पू० निश्चित होता है।

इसके पश्चात् चंद्रगुप्त और चाणक्य का वर्णन है। चंद्रगुप्त ने युद्ध में बहुतों को मारा; इस कारण उसकी मृत्यु जहरीले फोड़ों (विस्फोटों) से हुई। वह बौद्ध न था। चाणक्य को क्रोध में यम-मूर्ति बताया है, पर इसकी दीर्घायु तीन राजाओं के समय तक चली। इस प्रकार चाणक्य बिंदुसार का और आरंभ में अशोक का भी मंत्री था। बिंदुसार के समय राज्य-सीमा की बहुत वृद्धि हुई और, तारानाथ के अनुसार, उसका कारण यही चाणक्य मंत्री था। इसी प्रकार राधगुप्त मंत्री अशोक और उसके पीछे भी बना रहा। संभवतः वह विष्णुगुप्त चाणक्य का वंशज था।

इस ग्रंथ में बौद्ध गुरुओं का भी वर्णन है। मातृचीन खंडवन के नृपनगर में हुआ। नागार्जुन निर्वाण के ४०० वर्ष पीछे हुआ। उसे मयूरी विद्या प्राप्त थी और उसकी मृत्यु १०६ठे वर्ष में हुई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनके सिवा असंग, नंदतांत्रिक और नंदक का भी वर्णन है। नागार्जुन का समय ठीक बताया गया है। कनिष्क-काल में उसका वर्णन नहीं है। महायान उसी से चला। दूसरे स्थान में उसे अश्वघोष के पूर्व रखा है। अश्वघोष को यत्नकुल के समय में रखा है। यत्नकुल से दो कडफिससों का अर्थ है। पुष्यमित्र के राज्य की सीमा पूर्व से काश्मीरद्वार (द्वाराभिसार ?) तक की कही है। उसके द्वारा बहुत से मठों, चैत्यों और भिक्षुओं का नाश होना बताया गया है। कडफिससों की गणना मध्यदेश के सम्राटों में की है पर उनका नाम बुद्धयत्न और गंभीरयत्न लिखा है। कनिष्क को तुरुष्क, महातुरुष्क, महेशात्न और महायत्न इत्यादि नाम दिए हैं। इसके आगे कुछ प्रांतीय इतिहास दिया है। नेपाल में, पूर्वीय विभाग में लिच्छवि वंश का और पश्चिमीय विभाग में ठाकुरी वंश का ईसा की सातवीं शताब्दी में राज्य था। नेपाल में लिच्छवि वंश का आरंभ समुद्रगुप्त के समय से हुआ था। इनके पीछे ६७५ से ७०० ई० के बीच में वह तिब्बत के अधिकार में चला गया पर ७०३ ई० में वह फिर स्वतंत्र हो गया। पश्चिमीय विभाग में लाड देश के इतिहास के संबंध में वल्लभीकुल का इतिहास ५८५ से ६५० ई० तक का दिया है। ५०० ई० के पूर्व के यादव प्रजातंत्र राज्य का भी वर्णन है। ये लोग बड़े नाविक थे; पारस और सूर (Assyria) देश तक जाते थे। सोपारा बंदरगाह का पूर्व-नाम सूरपारक सूर देश को जाने के कारण ही से पड़ा था। यादवों की राजधानी द्वारवती सातवीं शताब्दी के अंत में ऋषि-शाप से समुद्र में डूब गई। द्वारवत्य लोग शीलादित्य के वंशज, यादव-कुल के, थे।

इससे आगे शक-वंश का वर्णन है। इसमें तीस राज्य थे जिनमें से अठारह सम्राट् हुए। ये मध्यदेश में थे। इनके अंत में नागसेन (नाग तथा प्रवरसेन और उसके वंशज) राजा हुए। नागवंश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का वर्णन आगे बंगाल के इतिहास में भी दिया है। गुप्तों के पीछे मध्यदेश में विष्णु (५२०-५३३ स० ई०) और हर का तथा मौखरी राजाओं का (५५० से ६०० स० ई०) वर्णन है। अजीत (आदित्य), ईशान, सर्व, पंक्ति, ग्रह और सुव्रत ये नाम दिए हैं। पंक्ति अवंतिवर्मन् का नाम है। ईशानवर्मन् ५५४ स० ई० में प्रथम महाराजाधिराज हुआ। इससे आगे हर्षवर्धन-कुल का वर्णन आता है। ये विष्णुवर्धन से उत्पन्न हुए थे पर वैश्य थे। आरंभ में मंत्री होकर पीछे से राजा हुए। आदित्यवर्धन प्रथम राजा हुआ फिर प्रभाकरवर्धन, राज्यवर्धन और हर्षवर्धन।

इसके आगे दक्षिण के हर्षवर्धन के समकालीन राजाओं का वर्णन है। उस समय दक्षिण में और द्वीपों में स्वामी कार्तिकेय की पूजा होती थी। द्वीप-समुदाय के द्वीप और फरदर इंडिया का वर्णन दक्षिण-वर्णन में ही किया गया है। द्वीपों के समुद्र का नाम कलिंगोद्र लिखा है। सातवीं शताब्दी में जावा में कलिंगकुल राज्य करता था। जावा से कलिंग राजा ने चीन को अपना एलची भेजा था।

गुप्त राजाओं में चंद्रगुप्त प्रथम का नाम नहीं लिखा जिससे जान पड़ता है कि वह सम्राट् चक्रवर्ती नहीं था। चंद्रगुप्त द्वितीय का नाम विक्रम ही लिखा है क्योंकि उसी नाम से वह विशेष प्रख्यात था। इसके पीछे महेंद्रादित्य कुमारगुप्त नृपवर और मुख्य हुआ, इसलिये इसे बलहीन कहना अनुचित है।

महेंद्र के पश्चात् स्कंदगुप्त देवराज श्रेष्ठ बुद्धिमान् धर्मवत्सल "इस युगाधम में" हुआ। इसके हूण-युद्ध का वर्णन चंद्रगर्भपरिपृच्छा में दिया हुआ है। जब यह बारह वर्ष का था तब महेंद्र के राज्य पर तीन राजाओं ने मिलकर चढ़ाई की, यवन (हूण), पारिलक (संसनियन) और शकुन (कुशान)। ये पूर्व में आपस में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लड़ते थे। इन्होंने गांधार और गंगा के उत्तर के देशों को अपने वश में कर लिया। इनकी सेना तीन लाख की थी। दीर्घबाहु युद्ध-गुण-संपन्न स्कंद ने अपने पिता की सेना के नायक बनने की आज्ञा माँगी। स्कंद ने अपनी सेना ५०० हिंदू धर्मानुयायी नायकों के अधिकार में बाँटकर शीघ्रता से और बड़े वेग से शत्रु पर आक्रमण किया। शत्रुसेना बिखर गई और स्कंद की जय हुई। उसके पिता ने इसपर इसे राज्यतिलक देकर स्वयं संन्यास ले लिया। पर स्कंद को इससे आगे भी बारह वर्ष तक लड़ाई लड़ते रहना पड़ा। इसने तीन शत्रु राजाओं को कैदकर प्राणदंड दिया। इसके पीछे उसे शांति मिली। विंसेंट स्मिथ का यह लिखना अशुद्ध है कि स्कंदगुप्त का राज्य हूण आक्रमण से नष्ट हो गया क्योंकि उसके पीछे बालादित्य के राज्य को निःसपत्न और अकंटक बताया है। स्मिथ ने दो बालादित्यों को मिलाने की भूल की है। प्रकाशादित्य और बुधगुप्त दोनों एक ही व्यक्ति हैं। इसके राज्य का अंत लगभग ५०० ई० में हुआ और उसके पीछे कुटुंब-कलह के कारण गुप्त साम्राज्य टूट चला और तोरमाण हूण को चढ़ आने के लिये मौका मिला। गुप्त-साम्राज्य का सूर्य ५२६-५३३ ई० के बीच में डूबा। एक बालादित्य स्कंदगुप्त का उत्तराधिकारी था और दूसरे ने ६० वर्ष पीछे मिहिरकुल को हराया। गुप्त-साम्राज्य बुद्धगुप्त के उत्तराधिकारी के काल में ५०० ई० के पीछे मिटा। बालादित्य द्वितीय ने हूणों को ५३३ ई० के पूर्व हराया था। यह हार ५२० ई० के लगभग हुई थी। बालादित्य गुप्त-वंश का प्रथम बौद्धधर्मावलंबी राजा था। वह ३६ वर्ष की आयु में मरा। उसके पीछे कुमारगुप्त द्वितीय हुआ। प्रकाशादित्य और बुद्धगुप्त दोनों एक ही व्यक्ति के नाम जान पड़ते हैं। गुप्त-साम्राज्य टूटने के समय भानुगुप्त मालवा में और तथागतगुप्त मगध में राजा थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका परिणाम यह हुआ कि एक नया सम्राट् यशोधर्मन् विष्णु-वर्धन उत्पन्न हुआ। बालादित्य द्वितीय मिहिरकुल का नाशक तथागतगुप्त का उत्तराधिकारी था।

पिछले गुप्तों का समय इस प्रकार निश्चित हो सकता है—

माधवगुप्त हर्ष का समकालीन; आदित्यसेन ६५०-६८० ई०; देवगुप्त ६८०-७१०ई०; विष्णुगुप्त चंद्रादित्य ७१० ई०; द्वादशादित्य चंद्रादित्य तीसरा कुछ मास ही; जीवितगुप्त ७१०-७३० ई०।

इससे आगे गौड़ और मगध का प्रांतीय इतिहास दिया है। शशांक ब्राह्मण था और राज्यवर्धन वैश्य था। इस पिछले का नग्न जाति के राजा के हाथ मारा जाना लिखा है। हर्षवर्धन ने शशांक को हराया और उसे अपने राज्य के बाहर न निकलने दिया। शशांक के पीछे बंगाल में प्रजातंत्र राज्य हुआ। ५३० ई० के पश्चात् भारत-सम्राटों की राजधानी मगध से उठकर मध्यदेश में ५३० ई० के लगभग चली गई थी। राज्यवर्धन के वंश के पीछे धरसेन चतुर्थ का क्षत्रिय-वंश चला।

अंत में कुछ धर्माचार्यों का भी वर्णन दिया है।

जायसवाल महाशय के इस ग्रंथ से भारतवर्ष के इतिहास की कुछ पूर्ति होगी। इसलिये हम उनका उपकार मानते हैं। भारशिवों का इतिहास और यह ग्रंथ थोड़े ही काल में भारतवर्ष के इतिहास का रूपांतर कर देंगे। इतिहास-प्रेमियों को इसे अवश्य पढ़ना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(७) विविध-विषय

पुरातत्त्व

गुप्त राजा कारस्कर जाट थे और उनका गोत्र धारण था। प्रभावतीगुप्ता के पूनावाले ताम्रलेखों में धारण गोत्र का वर्णन है। धारणीय जाट बीकानेर राज्य की संगरिया, हनुमानगढ़, सूरतगढ़ और दूसरी तहसीलों में पंजाब के किनारे किनारे पाये जाते हैं। ये लोग कदाचित् पंजाब के फीरोजपुर और भटिंडा जिलों में भी पाये जाते हैं और जाटों के समान ये भी गोरे, ऊँचे और हृष्टपुष्ट रहते हैं।

(वि० उ० रि० ज०, जून १९३४)

कौमुदीमहोत्सव नाटक का काल ३४० स० ई० माना जाता है। इस नाटक और कालिदास के ग्रंथों को मिलाने से ऐसा निश्चय होता है कि दोनों में से एक ने दूसरे के विचार, भाव और शब्द लिए हैं। पर किसने किससे लिए हैं यह निर्णय करना कठिन है।

(इं० हिं० क्वा०, दिसंबर १९३४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(८) राजस्थानी हिंदी और कबीर

[लेखक—श्री सूर्यकरण पारिक, एम० ए०, पिलानी]

कबीर हिंदी के दार्शनिक और लोकप्रिय कवियों में उत्तम कोटि के कवि गिने जाते हैं। हिंदी का कबीर पर गर्व करना स्वाभाविक है; परंतु यदि यह कहा जाय कि कबीर हिंदी का कवि उतना ही है जितना राजस्थानी का तो अनुचित नहीं है। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि कबीर के विषय में हिंदी और राजस्थानी को झगड़ने का अवकाश ही नहीं होना चाहिए। कबीर का काव्य उस समय की रचना है जब हिंदी और राजस्थानी को पृथक् नहीं गिना जाता था। एक ही देश-भाषा थी, जिसमें उत्तर भारत की जनता अपने भाव को प्रकट करती थी। वही भाषा कबीर की है। बाद के संकुचित भेद-भावों को लेकर कबीर की भाषा पर टीका-टिप्पणी करना अथवा उसको किसी एक प्रांतीय भाषा का रूप मान लेना, कबीर के साथ अन्याय करना है। कबीर राजस्थानी का कवि है और हिंदी का भी; कारण, उसके समय में राजस्थानी और हिंदी में कोई भेद नहीं था। जिसे हम आज राजस्थानी भाषा के नाम से पुकारते हैं वह नाम पीछे से प्रचलित हुआ है। उस समय गुजरात से अंतर्वेद तक एक ही देश-भाषा का प्रचार था। उसे चाहे राजस्थानी हिंदी कहिए, चाहे पुरानी हिंदी, चाहे जूनी गुजराती।

अपभ्रंश काल में भारत के विभिन्न प्रांतों में बोली जानेवाली अपभ्रंश के रूपों में विशेष अंतर नहीं था। उस काल में साहित्य-रचना का मुख्य केंद्र पश्चिमीय भारत था। इसी प्रदेश में अधिकांश अपभ्रंश साहित्य की रचना हुई। जैनधर्मावलंबी विद्वानों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने अपभ्रंश की जितनी सेवा की उतनी इतर भारतीयों ने नहीं और जैनों का प्रभुत्व पश्चिम भारत ही में था। सबसे पहले अपभ्रंश से राजस्थानी का विकास हुआ, जो आरंभ में गुजरात से अंतर्वेद (यू० पी०) तक के प्रदेश की प्रचलित भाषा थी। इसी प्राचीन रूप से आगे चलकर गुजराती, आधुनिक राजस्थानी, ब्रज-भाषा आदि भाषाओं का विकास हुआ। कौन नहीं जानता कि पुरानी हिंदी के गद्य-पद्य साहित्य में यही राजस्थानी रूप प्रधानता के साथ मिलता है ? इस व्यापक देश-भाषा की रूप-रेखा पहचानने के लिये विक्रम सं० १००० से १६०० तक के प्राचीन हिंदी के साहित्य का अनुसंधान करना चाहिए। वीरगाथा काल के कवियों—चंद, नरपति, नाल्ह, नल्हसिंह आदि—की कृतियों में यह रूप स्पष्टत: झलकता दिखाई देगा।

राजस्थानी का हिंदी के साथ घनिष्ठ पूर्व संबंध पूर्णतया समझने के लिये कबीर की भाषा का सूक्ष्म अध्ययन करना बहुत आवश्यक है। नीचे हम कबीर की रचना में प्रयुक्त हुए कुछ राजस्थानी शब्दों और मुहाविरों की सूची देते हैं—

आधा परधा, आँथवै, आपण, उडाणो, उपायौ, ऊखण्या, कुंज, कद, कदे, जद, तद, क्रम (कर्म), काण, कालर, कांठै, कहसी, काँइ, कराड़ै, कुँमिलाणो, करसी, खड़हड़ताँ, खोड़ि, खूँणै, खाँगौ, खिवै, खूँटी ताँणि (मुहा०), खेड़, खिरि, गहेलड़ी, गुज्झ, घणा, घाल्या, घुरड़ि, घाघरै, चाँनिणो, चंच, चहोड़, चोळ, चौड़ै, चात्रिग, चवै, छइ, छाँगि, छानै, छोति, जोइया, जांणिजै, जासी, ज (पादपूर्त्यर्थक), झज्झ, झाळि, झीण, झबूकती, झंखि, झकोळनहार, ठाहरै, डागळो, डूंगरि, तर (तो), त (तो), ततसार, तेणि, त्यांह, तिरसी, थयाँह, थै (=से), थकाँ, थई, थाँहि, थूँणी, थारै, दीवा, दाझण, दाधी, दाधा, दीठा, दह, दिसावराँ, दुहेला, दोहरा,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ढिढ़, दहदिसि, धंम, धीजिए, नीपजै, नीझर, नचीत, नेड़ा, निवाँण, नपूर, नाठी, पाळवै, पाँणी, पूरबला, पट्टन, पेखणाँ, पगड़ा, पछेवड़ा, परि (भाँति), पंन (पर्ण, पत्ते), पसाव, पयंपै, पाँखै (= बिना), पलांनि, पणि, पूगी, पालि, पूळा, भेाळ, भी (फिर), भेला, भेलिसी, भुसै, भाजिसी (भागेगा, चुभेगा, टूटेगा), भावै, मिनकी, मेल्ह्या, मांडी, महमही, मैंगल, मैमंत, मारिसी, मेल्है इ०, महरांण, मंझ, मुकलाऊँ, माहिलौ, मोकला, रूड़ौ, रुति, रलिया, रूधहिं, लार, लेसी, लाधा, लहुरी, लाहौ, बाहणौ (चलाना), बाह्या, बागै, बैसणो, बहोड़ि, बेसास, बिडाण, बाव, बधावणा, बावै (बोता है), बदेस, बीद, बागड़, बींझ, बिरोलै, बनराइ, बावलिया, बलसी, वांनी, संसौ, सूँ, साव, हाथालि, सालै, सीठ, सहनांण, सरूया, सोहरा, सैंण, साटै, सैजछा, स्यावज, सुवटा, सेती, सलिता, सँगाती, हुता, हूँणा, होसी, हंदा, हूँ, हेला इत्यादि[1] ।

इनके अतिरिक्त क्रियाओं और कारकों के रूप भी यत्र तत्र राजस्थानी से मिलते हैं ।

उपर्युक्त सूची पर मनन करने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि कबीर पर राजस्थानी के इतने गहरे प्रभाव का क्या कारण हो सकता है ? क्या ये शब्द बाद के प्रक्षिप्त अंशों से लिए गए हैं ? यदि ऐसा होता तो कबीर का सारा काव्य ही प्रक्षिप्त समझा जाता । कबीर का शायद ही कोई छंद होगा जिसमें थोड़ा बहुत राजस्थानी भाषा का स्पर्श न हो । अधिकांश स्थलों में तो क्रियाओं और कारकों के रूप भी राजस्थानी मिलते हैं । यह एक समस्या है, ग्रंथि है, जो हिंदी के विद्वानों को उलझन में डाले हुए है ।

---

(१) ऊपर दी हुई सूची नागरी-प्रचारिणी सभा काशी, द्वारा प्रकाशित "कबीर-ग्रंथावली" से बनाई गई है, जिसका संपादन सं० १५६१ की लिखी प्राचीन प्रति के आधार पर हुआ है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कबीर के विषय में उनको राजस्थानी का एहसान मानने में संकोच होता है। हम कहते हैं, मानने की आवश्यकता भी नहीं है। परंतु अपनी चीज को अपनाने में तो संकोच नहीं होना चाहिए। हमें यह जान लेना चाहिए कि हिंदी का पूर्वरूप ऐसा ही था जैसी कबीर की भाषा। यह रूप व्यापक था, छूआछूत के रोग से परे था, लोकप्रिय था; इसका हाजमा दुरुस्त था। यह वही रूप था जिसे हम हिंदी के वर्तमान रूप-निर्माण के पहले और अपभ्रंश के अंत में प्राचीन हिंदी अथवा राजस्थानी हिंदी का व्यापक रूप कह चुके हैं और जो उत्तर भारत में सर्वत्र प्रचलित था।

'वीणा' इंदौर के सितंबर १९३३ के अंक में श्री सत्याचरण 'सत्य', एम० ए० ने कबीर की रचना और उसकी भाषा' पर अपने विचार प्रकट करते हुए नागरी-प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित 'कबीर-ग्रंथावली' में संगृहीत कबीर की साखियों की भाषा की प्रामाणिकता में संदेह किया है और उन्हें जाली ठहराया है। उनका अनुमान है कि या तो कबीर के अशिक्षित शिष्यों ने उनकी वाणी का मनमाना रूपांतर कर दिया है, अथवा यह लिपिकर्त्ताओं की मनमानी है। हमारी समझ में, इस प्रकार के संदेहों का तभी तक स्थान रहता है जब तक कवि के समय और उसके ग्रंथ के लिपिबद्ध होने के समय में बहुत अंतर पड़ जाय। नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रयुक्त आधार-प्रति सं० १५६१ की होने से कबीर की समकालीन प्रति है। जब तक यह प्रति अप्रामाणिक सिद्ध न कर दी जाय तब तक कबीर की भाषा जाली नहीं ठहराई जा सकती। फिर विद्वान् लेखक का यह भी कहना है कि कबीर की रमैणी, पदावली और साखी में उन्हें केवल साखी की भाषा ही जाली प्रतीत होती है। पदावली और रमैणी की भाषा क्यों नहीं? माना कि साखियों में राजस्थानी शब्दों, कारक और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रिया-प्रयोगों का बाहुल्य है, परंतु पदावली और रमैणी भी इनसे अछूती तो नहीं है। लेखक की एक युक्तिसंगत दलील यह भी है कि कबीर के समकालीन (?) और उसी प्रदेश में रहनेवाले दूसरे कवि जायसी की भाषा में और कबीर की भाषा में आकाश-पाताल का अंतर क्यों है? यह सब कोई जानते हैं कि जायसी की भाषा बोलचाल की ठेठ अवधी है और वह भी राजस्थानी के स्पर्श से सर्वथा खाली नहीं है। परंतु कबीर ने जिस भाषा में रचना की है, वह उस काल की प्रचलित साहित्य-भाषा है, जो किसी प्रांत-विशेष की बोलचाल की भाषा नहीं थी बल्कि साहित्य-रचना के लिये समस्त उत्तर भारत में प्रयुक्त होती थी, जैसा कि हम ऊपर लिख आए हैं। बहुपर्यटनशील होने के कारण और सिद्धांततः संकुचित प्रांतीयता और क्षुद्र मत-मतांतरों के विरोधी होने के कारण कबीर ने इसी व्यापक देशभाषा को साहित्य-रचना के लिये उपयुक्त समझा, यह युक्ति-संगत भी है। फिर भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी जब अनुसंधान करते हैं तो प्राचीन हिंदी के प्रायः सभी ग्रंथों में उस व्यापक साहित्य-भाषा का रूप मिलता है। अतएव ग्रंथावली के संपादक का यह लिखना कि "कबीर-ग्रंथावली के दोहों आदि की भाषा भाषा-विज्ञान की दृष्टि से कबीरदासजी के समय के लिये उपयुक्त है और वह हिंदी के १६वीं तथा १७वीं शताब्दि के रूप के ठीक अनुरूप है", हमें तो सत्य से सर्वथा शून्य नहीं मालूम होता।

इस बात की पुष्टि एक दूसरे प्रमाण से भी हो जाती है। अपभ्रंश-काल में दूहा-साहित्य का प्राधान्य रहा। हेमचंद्र के समय में यह दूहा (अथवा 'दोहा') साहित्य उन्नति की चरम सीमा को पहुँच चुका था। वही समय देशभाषाओं के जन्म का था। अतएव यह स्वाभाविक ही है कि इन विभिन्न देशभाषाओं का प्राथमिक साहित्य दूहा-रचना को लेकर अवतीर्ण होता। दूत-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काल के जैन-कवियों द्वारा रचित दूहा-काव्यों में हिंदी का वह प्राथमिक रूप स्पष्ट झलकता है। राजस्थान में इसी समय के लगभग एक लोकप्रिय दूहा-काव्य प्रचलित था जिसके दोहों की भाषा को देखने से प्रमाणित हो जाता है कि उस काल की राजस्थानी और हिंदी में इतना भेद नहीं था जितना कि अब हो गया है। इस दूहा-काव्य का नाम है "ढोला-मारू रा दूहा"[1]। हमारे अनुमान से यह काव्य देर से देर में १५वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में निर्मित हुआ प्रतीत होता है। कबीर का समय भी लगभग इसी के आसपास का समय है। अतएव इन दो समकालीन काव्यों की तुलना करने से हम तात्कालिक हिंदी-भाषा के रूप के संबंध में किसी निश्चित तथ्य पर पहुँच सकेंगे।

यह जानकर आश्चर्य होता है कि "ढोला-मारू रा दूहा" और कबीर की रचना में न केवल शब्दों का ही साम्य है, वरन् कहीं कहीं तो भाव भी ज्यों के त्यों दोनों में मिलते हैं। संभव है, कबीर ने उसका कहीं कहीं आश्रय लिया हो। परंतु कबीर जैसे प्रतिभासंपन्न कवि को बाहरी आश्रय लेने की क्या आवश्यकता पड़ी होगी। वास्तव में बात यह थी कि जिस साहित्य-संपत्ति और भाषा का प्रयोग कबीर करने चले थे, उसी में 'ढोला-मारू रा दूहा' की रचना भी हुई। एक सरोवर में से दो जल के घड़े भरने से पानी में एक सी मिठास तो होगी ही। इसमें कौन सा आश्चर्य है, यदि कबीर और ढोला-मारू की प्रेम-कहानी के लेखक ने उन्हीं साधारण शब्दों, मुहावरों, परंपरानुगत काव्योक्तियों का अपने अपने काव्यों में निस्संकोच प्रयोग किया, जो कि तरल रूप में समाज में सर्वत्र प्रचलित थे।

---

(१) देखो—'ढोला-मारू रा दूहा'—प्रकाशक नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी; मूल्य ४); पृष्ठ-संख्या १००।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपर्युक्त कथन को स्पष्टतः प्रमाणित करने के लिये हम नीचे उन स्थलों को उद्धृत करते हैं जिनमें 'ढोला-मारू' के दूहे और कबीर की रचना—भाषा, भाव और शब्दों में—मिलते हैं[1]—

(क) भाषा और भाव-साम्य

(१) कबीर—अंबर कुंजाँ कुरलियाँ गरजि भरे सब ताल ।
जिनि पैं गोबिंद बीछुटे तिनके कवण हवाल ॥ ३।१॥

ढोला—राति जु सारस कुरळिया गुंजि रहे सब ताल ।
जिणकी जोड़ी बीछड़ी तिण का कवण हवाल ॥ ५३ ॥

(२) कबीर—यहु तन जालौं मसि करौं ज्यूँ धूँवा जाइ सरग्गि ।
मति वै राम दया करै बरसि बुझावै अग्गि ॥३।११॥

ढोला—यहु तन जारौं मसि करूँ धूँआ जाहि सरग्गि ।
मुझ पिय बदल होइ करि बरसि बुझावइ अग्गि ॥१८१॥

(३) कबीर—कबीर सुपिनैं हरि मिल्या, सूतां लिया जगाइ ।
आँषि न मीचौं डरपता, मति सुपिनाँ ह्वै जाइ ॥५०।६॥

ढोला—सुपनइ प्रीतम मुझ मिल्या, हूँ गलि लग्गी धाइ ।
डरपत पलक न छोडही, मति सुपिनउ हुइ जाइ ॥५०३॥

(४) कबीर—कबीर हरि का डर्पताँ ऊन्हाँ धान न खाउँ ।
हिरदा भीतर हरि बसै, ताथै खरा डराउँ ॥ (ख ५०।७)

ढोला—प्रीतम तोरइ कारणइ ताता भात न खाहि ।
हियड़ा भीतर प्री बसइ, दाझणती डरपाहि ॥१६०॥

(५) कबीर—चुगै चितारै भी चुगै चुगि-चुगि चितारै ।
जैसे बच रहि कुंज मन माया ममतारे ॥ (प) ५२ ॥

ढोला—चुगइ, चितारइ, भी चुगइ, चुगि चुगि चितारेह ।
कुरझी बचा मेल्हिकइ, दूरि थकाँ पालेह ॥२०२॥

---

(१) ये उद्धरण 'कबीर-ग्रंथावली' (ना० प्र० सभा) और 'ढोला-मारू रा दूहा' (ना० प्र० सभा) से लिए गए हैं ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ख) शब्द-साम्य

कबीर	ढोला-मारू रा दूहा
१—भावैं जाण म जाणी ३८७	भावइँ जाँण म जाँण १७५
२—उलट अपूठा आँणि १३।१	राज अपूठा वाहुड़इ ४०४
३—अधफर थाकि रहे है ३१०	आडावळ आधोफरै ४३९
४—आइ पहुंता कीर ४६।१९ टि०	आइ पुहत्तउ कीर ४००
५—यहु मन आमन-धूमनाँ ३०२	अंतरि आमण-दूमणा २१८
६—विरहिनि ऊभी पंथसिरि ३।५	ढोलउ पूगळ पंथ-सिरि ४२२
७—निर्मल नाँव चवै जस बोलै ३४४	सुणि सुन्दरि सच्चउ चवाँ २३८
८—जगत ढँढोल्या वादि ५।३३	ढोलइ धण ढंढोलियउ ६०२
९—कबीर तुरी पलाँणिया १३।१३	ढोलइ करह पलाणियाँ ३६२
१०—रात्यूँ रूनी विरहिनी ३।१	रात्यूँ रूँनी निसह भरि १५६
११—देवळि देवळि धाहड़ी ३।४४	तिणि चढ़ि मूकूँ धाहड़ी ३८६
१२—डूँगरि वूठा मेह ज्यूँ १३।२२	दूधे वूठा मेह ५५९
१३—साईं हंदा सैंण ४३।१०	सयणाँ हंदा हत्त ५०९
१४—सुति मुकलाई अपनी माऊ प० ९६	मारवणी मुकलाई ५९५
१५—घड़ बाँधी सिषराँह ५३।३	काळी घड़ सषराँह २७१

इसी प्रकार और भी बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं। कबीर की भाषा के संबंध में हमने अपने विचार 'ढोला-मारू रा दूहा' ग्रंथ की भूमिका में सविस्तर प्रकट किए हैं।

अंत में हिंदी के विद्वानों से प्रार्थना करूँगा कि वे इस विषय पर विचार कर अपना मत प्रकाशित करें। हिंदी की उत्तरोत्तर समृद्धि को देखते हुए क्या यह संकोच का विषय नहीं है कि उसके सबसे बड़े दार्शनिक और लोकप्रिय कवि की रचना और भाषा के संबंध में अब तक मतैक्य स्थिर नहीं हो सका है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६) शक-संवत्

[लेखक—श्री वेणीप्रसाद शुक्ल, प्रयाग]

मौर्य-साम्राज्य के अंतिम समय में, सन् ईसवी से सौ वर्ष पहले, भारत-साम्राज्य जीतने की कामना से, चार प्रवीण खिलाड़ी चारों दिशाओं से अपने अपने राजनीतिक दाँव-पेच लगा रहे थे।

१—पूर्व से चैत्रवंशी कलिंगराज खारवेल।

२—पश्चिम से यवनराज मेनांडर।

३—उत्तर से पाटलिपुत्र के सेनापति पुष्यमित्र शुंग।

४—दक्षिण से प्रतिष्ठान के नरपति आंध्र सातकर्णि।

सबसे पहले कलिंग देश के नवयुवक और उच्चाभिलाषी नरेश—जो कि वैशाली के चैत्रवंश में थे और विशालकाय हाथी पर सवार होने से महामेघवाहन भी कहलाते थे—अपनी प्रचंड गजसेना लेकर कलिंग देश से बाहर निकले। पश्चिम दिशा में आगे बढ़कर खारवेल ने आंध्र सम्राटों के अधीन रथिकों (खानदेश) और भोजकों (बरार) पर आक्रमण कर संपूर्ण दक्षिणापथ को हिला दिया। रथिकों और भोजकों को दंड देकर खारवेल उत्तर की ओर मुड़े और मथुरा पर अधिकार कर उन्होंने पंजाब के यवनों को भी भयभीत कर दिया। मथुरा विजय कर, कलिंगराज ने, मौर्य राजधानी पाटलिपुत्र नगर को घेरकर जीत लिया और चंद्रगुप्त मौर्य के सुगांगेय राजप्रासाद में अपने सैनिक हाथी बँधवा दिए। दिग्विजय कर खारवेल ने राजसूय यज्ञ किया और "महामंडलेश्वर" और "कलिंगचक्रवर्ती" की पदवी धारण की, लेकिन दूसरे वर्ष गोरथ-गिरि के युद्ध में पुष्यमित्र से पराजित होकर, कलिंगराज खारवेल,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभातकालीन शुक्र तारे की तरह अल्पकाल तक अपनी चमक-दमक दिखाकर भारतीय ऐतिहासिक नभमंडल से अदृश्य हो गए।

दूसरे सफल खिलाड़ी सेनापति पुष्यमित्र ने, दसवें मौर्य सम्राट् बृहद्रथ को मारकर, मौर्य-साम्राज्य का अंत कर दिया। बौद्ध तथा म्लेच्छ यवन, और जैन खारवेल को परास्त कर, सिंधु नदी से ब्रह्मपुत्र नदी तक संपूर्ण उत्तर भारत वश में कर, उसने दो अश्वमेध यज्ञ संपन्न किए। पौरव जनमेजय के अनंतर भारत-भूमि पर कोई अश्वमेध यज्ञ नहीं हो सका, इसी से इस युग का नाम पुराणों में कलियुग रख दिया गया। पुष्यमित्र के यज्ञ की तिथि से ब्राह्मणों ने कलियुग का अंत, और एक नए युग 'कृतयुग' का आरंभ माना। कृतयुग की तिथि के सदा स्मरण रखने के लिये संवत् का प्रचार किया गया, जो पहले कृत, मालव और विक्रम संवत् के नाम से परंपरा से आज तक उत्तर भारत में लिखा जा रहा है। शुंग काश्यपगोत्री ब्राह्मण थे, प्राचीन मालव वंश में थे; इन्होंने ब्राह्मण-वैदिक धर्म-प्रचार के लिये धन-रत्नों से भरे बौद्ध संघारामों (मठों) को लूट लिया—असंख्य बौद्ध भिक्षुओं का संहार कर डाला।

पाटलिपुत्र में बौद्धों का वध और मौर्यछत्र-भंग का संवाद सुनकर शांकल (स्यालकोट) के यवनराजा मेनांडर ने, जिसके अधीन सिंधु नदी के दोनों ओर और सतलज नदी तक के सब छोटे-बड़े यवन राज्य थे, रणदुर्मद यवनों की बड़ी भारी सेना लेकर बड़े वेग से पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया। माध्यमिका (चित्तौड़) और मथुरा को तहस-नहस करते हुए मेनांडर ने अयोध्या विजय कर, पाटलिपुत्र को घेर लिया। अनेक यत्न करके भी यवनसेना नगर को न ले सकी। नगर के दुर्ग और विशाल परिखा (खाई) तथा नगर की प्राचीर पर रखे हुए अनेक अस्त्र-शस्त्रों की मार से यवनसेना पराजित होकर भागी। युद्धदुर्मद यवन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मध्यदेश[1] में भी नहीं ठहर सके, सिंधु के किनारे तक उनके पैर नहीं जमे। यज्ञ के घोड़े की रक्षा करती शुंग-सेना ने, जिसके सेनापति कुमार वसुमित्र थे, सिंधु के किनारे यवनों को घोर युद्ध में पराजित कर मार भगाया।

खारवेल और मेनांडर के परास्त हो जाने से, शुंग-साम्राज्य सिंधु से ब्रह्मपुत्र तक और हिमालय से ताप्ती नदी तक फैल गया। राजधानी का गौरव पाटलिपुत्र को प्राप्त था। उज्जयिनी, मथुरा, शांकल प्रांतीय राजधानियाँ थीं। सम्राट् अग्निमित्र (विक्रमादित्य) विदिशा में निवास करते थे। ताप्ती नदी के दक्षिण आंध्र-साम्राज्य से शुंग सम्राट् की संधि खारवेल-आक्रमण के समय से ही हो गई थी। इससे ब्राह्मणों के लिये यह समय सतयुग था। शुंग-वंश की तरह दक्षिण के आंध्र-वंशधर भी परम वैदिक भृगुगोत्री ब्राह्मण थे। आंध्र सातकर्णि प्रथम ने भी अपने समकालीन पुष्यमित्र से भी आगे बढ़कर दो अश्वमेध तथा राजसूय यज्ञ किए। इसी से ब्राह्मणों ने पुराणों में प्रथम सातकर्णि को "महान्" पदवी से अलंकृत किया है।

पुराणों में १० शुंग-नरेश और उनका राज्यकाल ९० वर्ष लिखा है। इस ९० वर्ष में पाटलिपुत्र के सिंहासन पर सात विदेशी राजाओं ने बैठकर मगध देश पर राज्य चाहे किया होगा। किंतु सम्राट् वसुमित्र की मृत्यु के अनंतर (जो कि कृत संवत् के २० वर्ष बीतने पर हो गई थी; ३७ बी० सी०) पश्चिम भारत की राजधानी उज्जयिनी में शुंग-राज्य का अंत हो गया। शुंग सामंत बालमित्र और भानुमित्र को हटाकर गर्दभिल्ल नामक एक पुरुष ने उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया। यह गर्दभिल्ल भारत के इतिहास में एक प्रधान स्थान रखता है। इसी गर्दभिल्ल के शासन-काल में पश्चिमोत्तर भारत से गिरिसंकट (खैबर) पार कर, भयंकर शक-

(१) मध्यदेशे न स्थास्यन्ति यवनाः युद्धदुर्मदाः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

म्लेच्छों का पहला दल, भारी घोड़ों पर सवार अपने बाल-बच्चों को भी घोड़ों पर लादे, अपने घोड़ों की टापों से भारतभूमि को धूल में मिलाता, टिड्डीदल की तरह भारत में आया।

शकों का भारत पर पहला आक्रमण भारतीय इतिहास की मुख्य और महत्त्वपूर्ण घटना है; तब भी संस्कृत-साहित्य में इसका कोई उल्लेख नहीं है। किंतु जैन-साहित्य इस मुख्य ऐतिहासिक घटना पर पूरा प्रकाश डाल रहा है। जैन-साहित्य में शक-आक्रमण की कथा, जो शुद्ध ऐतिहासिक है, विस्तार से लिखी है। "कालकाचार्य कथानक" एक प्रसिद्ध जैन-ग्रंथ है। कालकाचार्य कथानक में शक-आक्रमण की गाथा बड़े रोचक ढंग से लिखी है—

"गर्दभिल्ल[1] राजा के मंत्री कालकाचार्य थे। किसी कारणवश मंत्री कालकाचार्य, अपने स्वामी गर्दभिल्ल से क्रुद्ध होकर, उज्ज-

---

(१) गाथा—

विज्जाओ रससबली तेय सलद्धी सहायलद्धो वा।
उप्पादेउं सासति अतिपंतं कालगज्जो व्व॥

ईदृशोऽधिकरणमुत्पाद्यन्ति, प्रान्तमतीवप्रवचनप्रत्यनीकं शास्त कालिकाचार्य इव। यथा कालिकाचार्यो गर्दभिल्ल राजानं शासितवान्।

(Brihat Kalparitti with Bhashya 4 Odessa)

कथानकं चेत्थं—

एवं भामेउ सो कालगज्जो पारसकुलं गतो, तत्थ एक साढिति राया भणति। तं समल्लीणा णिमितादि एढिं ढियं आउहेति। अण्णया तेस्स साढानुसाहिणा कम्हि विकारणे भट्टेन कढारिगा रहेउं पेसिया। सीसं विन्दादित्ति। आकोप्पमाणं आगतं केच्छि उण सो ये विमणो संजातो अप्पाणं मारिउ ववसियो। ताहे कालगज्जेण भणितो मा अप्पाणं मारेहि। साढिणा भणियं-परम सामिणा रुट्ठेण एत्थ अत्थिउं ण तीरइ, कालगज्जेण भणियं-परम सामिणा-एहि हिदुगदेशं वच्चामो। रण्णा वमिसुयं। तत्तछाण रण्णोऽसि पिं पंचाण उन्तीए साढिणा सुअं। केण कढारियाओ तेहिं पेसियाओ। तेय पुविल्लेण इया पेसिया मा अप्पाणं मारेह। एढि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यिनी का त्याग कर और सिंधु नद पार कर सग देश में चले गए। सग देश में जाकर कालकाचार्य सगकुलों को भारत में लाए। सगकुल, जिनमें ९६ कुल या दल थे, कालगज्ज (कालकाचार्य) के साथ दलबल सहित (सबलवाहन) हिंदुग देश में आए। सिंधु पार कर शकदल ने (सगकुल) लाट देश के राजा से मिलकर, सौराष्ट्र देश को कंपित कर, गर्दभिल्ल को मारकर, पश्चिम भारत की राजधानी उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया। उज्जयिनी को वश में कर शकों के ९६ दलों ने भारत में अपने ९६ राज्य स्थापित कर लिए।"

गर्दभिल्ल का उज्जयिनी पर १३ वर्ष राज्य-काल पुराणों में लिखा है। अर्थात् अग्निमित्र का राज्य-काल ८ वर्ष, वसुमित्र का १२ वर्ष और गर्दभिल्ल का १३ वर्ष मानने से शकों का आगमन, क्रत संवत् के ३३ वर्ष बीतने पर, २३ बी० सी० में पड़ता है। अनेक विद्वान् गर्दभिल्ल को विदेशी और म्लेच्छ मानते हैं किंतु गर्दभिल्ल विदेशी नहीं विशुद्ध भारतीय थे। मेरुतुंग स्थविरावली में आचार्य जिनसेन ने गर्दभिल्ल को मौर्य सम्राट् संप्रति का वंशज लिखा है। गर्दभिल्ल को जैन और उनका राज्य-काल १३ वर्ष लिखा है, लेकिन अत्याचारी होने के कारण गर्दभिल्ल ने जैन-साहित्य में आदर नहीं पाया। जैन-ग्रंथों में उज्जयिनी नगरी की एक गर्दभी की कथा गर्दभिल्ल के साथ जुड़ी है। जिनसेन ने भी मेरुतुंग स्थविरावली में गर्दभिल्ल को "रासभराजानः" लिखा है।

वच्चामो हिदुगदेसं ते उन्नओपि सुरठ मागया कालो य णव पाउसो वट्टइ। तारिसे काले ण तीरइ गन्तुं तत्थ मंडलाइं कया वि विभत्तिऊणं जं कालगज्जो समल्लीणो सो तत्थ अधिवोण्या ठवितो। ताहे सगवंशो उपण्णो वत्ते य वरिसाकाले कालगज्जेण भणियो। गद्दभिल्लो रायाण रोढेमो। ताहे लामा रायाणो ये गद्दभिल्लेण अवमाणिता ते मे त आ अण्णेय ततो उज्जेणी रोढिता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुराणों में गर्दभिल्ल का नाम पाँच तरह से लिखा है—गर्दभिन्, गदेभिला, कर्दभिला, गर्दभृत् और गर्दभिका।

नाम के अतिरिक्त पुराणों में गर्दभिल्ल की चर्चा नहीं के बराबर है। सोमदेव भट्ट की बृहत्कथामंजरी से गर्दभिल्ल का कुछ परिचय मिलता है। बृहत्कथामंजरी में लिखा है कि दक्षिण के राजा शालिवाहन ने कलिंगराज की कन्या से विवाह किया जो भीलों और शवरों के भी राजा थे और सम्राट् खारवेल के वंशज थे। खर (खारवेल) और गर्दभ एक ही शब्द है तथा गर्दभिल्ल के अंत में भिल्ल शब्द से गर्दभिल्ल का कलिंग के भिल्लवंश में होना संभव है। प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न होने से गर्दभिल्ल शुंग-शासन-काल में उज्जयिनी में या तो प्रधान राजकर्मचारी था या प्रधान नागरिक, इसी से शुंगों के निर्बल हो जाने पर गर्दभिल्ल ने सहज में शुंग सामंतों को हटाकर उज्जयिनी पर १३ वर्ष राज्य किया। गर्दभिल्ल के १३ वर्ष राज्य कर चुकने पर शकों ने भारत पर पहला आक्रमण कर अपने ९६ राज्य स्थापित कर लिए।

शकों के शिप्रा नदी से सिंधु नदी तक ९६ राज्य पूर्ण स्वतंत्र नहीं थे। ये राज्य सिंधु के किनारे तक्षशिला में रहनेवाले शकाधिपति (साहानुसाहिणा) शाहानुशाही[1] के अधीन थे। इन अर्धस्वतंत्र ९६ सर्दारों में क्षहरतवंशी नहपान का नाम सब से अधिक प्रसिद्ध है। नहपान ने उज्जयिनी, मथुरा, दशपुर और सौराष्ट्र में अपना राज्य स्थापित कर लिया और विदिशा में जो सम्राट् अग्निमित्र का क्रीड़ास्थल था अपने भूतिनंदि और शिशुनंदि नामक सामंतों को नियुक्त कर दिया। उज्जयिनी और

(१) जैन उद्धरण में शाहानुशाही शब्द किसी शक सम्राट् के लिये नहीं आया। शाहानुशाही शब्द पार्थियन सम्राटों के लिये आया है जिनसे शकों की शत्रुता थी। शकों ने पार्थियन सम्राट् 'आर्तवेनस' को युद्ध में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मथुरा पर शकों का अधिकार हो जाने से उत्तर भारत के ब्राह्मण (शुंग) साम्राज्य की कमर टूट गई। उच्चाभिलाषी तथा लोभी नहपान ने उज्जयिनी और साँची पर संतोष न कर, अपने भयानक शक घुड़सवारों को लेकर आंध्र सातकर्णि के राज्य के दक्षिण में घुसकर, दक्षिण के प्रधान नगर भरुकच्छ को जीत लिया। भरुकच्छ पर शकों का राज्य हो जाने से प्रतिष्ठान का आंध्र-साम्राज्य भी अंतिम साँस लेने लगा।

भरुकच्छ पर शकों के प्राबल्य से नवस्थापित ब्राह्मण-साम्राज्य और ब्राह्मण-धर्म पर बड़ा गहरा धक्का लगा। देश में म्लेच्छ प्रबल हो गए। यदि कहीं नहपान भरुकच्छ से आगे बढ़कर आंध्र राजधानी प्रतिष्ठान पर भी अधिकार कर लेता, तो भारतवर्ष में सदा के लिये ब्राह्मण सभ्यता और आर्यों का राज्य नष्ट हो जाता। यह समय भी शकों के लिये बड़े सुभीते का था। पाटलिपुत्र में शुंग या कण्ववंश के आचरणहीन और निर्बल मृतप्राय राजा अपनी अंतिम घड़ियाँ गिन रहे थे और प्रतिष्ठान में सातकर्णि महान् (६० बी० सी०) से शक-आक्रमण के समय २० बी० सी० तक सातवाहन-वंश की ४ पीढ़ियाँ बीत चुकी थीं। सातवें सातकर्णि मेघस्वति की मृत्यु के बाद युवराज विलिवायु जो आंध्र-भाषा में "कुर" कहलाते थे बालक थे। राज का संचालन राजमाता गौतमी

हराकर मार डाला था। इससे पार्थियन सम्राट् मिथ्रिडेटस द्वितीय ने शक्तिशाली होकर, शक सर्दारों के पास एक खंजर भेजा और कहलाया कि शकजाति युद्ध के लिये तैयार हो जाय या देश छोड़ दे। यदि युद्ध में शकों की हार हो जायगी तो शक जाति बालबच्चे सहित समूल नाश कर दी जायगी। इस संदेश से शक सर्दार भयभीत हो गए, और इसी समय कालकाचार्य के कहने से शकों ने धनधान्यपूरित भारतभूमि की शरण में जाना उचित समझा और "सबलवाहन" सिंधु पार कर उज्जयिनी में गर्दभिल्ल को मारकर पश्चिम भारत के अधिपति हो गए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बालश्री कर रही थी। बालश्री ने अपने पुत्र के युवा होने तक शकों को भरुकच्छ से एक कदम आगे बढ़ने नहीं दिया। इतना ही नहीं, युवराज को राजनीति की शिक्षा देकर, भरुकच्छ और उज्जयिनी से भी शकों को मार भगाया।

युवा होकर सम्राट् विलिवायु ने कैसे शकाधिपति नहपान को पराजित किया, इसका इतिहास भी हमको जैन-साहित्य से ही मिलता है। जैन-साहित्य का उद्धरण विशुद्ध ऐतिहासिक है। जैन-ग्रंथों से हम जान सकते हैं कि कैसे वेदज्ञानवती माता से राज-धर्म सीखकर और अपना सैन्यबल बढ़ाकर गौतमीपुत्र विलिवायु ने अति लोलुप शकराज नहपान को भरुकच्छ में घेरकर मार डाला (मालवा में नहीं) और उज्जयिनी में मालव क्षत्रियों को मिलाकर, विलिवायु ने मध्यदेश मथुरा से भी शकों को मार भगाया। इस विजय के उपलक्ष्य में सम्राट् विलिवायु ने नहपान की मुद्राओं पर अपनी छाप भी लगवा दी। इस छाप में आंध्र सम्राट् ने माता के प्रति अत्यंत प्रेम होने से अपना नाम नहीं लिखा, केवल गौतमी-पुत्र ही लिखा है। गौतमीपुत्र की विजय का इतिहास जैन-साहित्य में बड़े रोचक ढंग से लिखा है[१]।

(१) Appendix

श्रीमद्भद्रबाहुप्रणीत नियुक्त्युक्त भाष्यकलित, श्रीमद्हरिभद्र सूरि शेखर सूत्रित वृत्तिपरवृतिम्।

श्रीमदावश्यक सूत्रस्योत्तरार्द्धं (पूर्वभागः)।

VI 18 Agmodaya Samiti 81973 folios 712-713 :—

संवेगत्तिगयं इपाणि पणिहित्ति पणिही। नाम माया सा दुविहा।—
दव्व पणिही य। भाव पणिही य। दव्व पणिहीये उदाहरण गाहा—
भरुकच्छे जिणदेवो भयंत मिच्छे कुलाण भिक्खू य।
पइठाण सालिवाहन गुग्गुल भगवं च णहवाणे ॥१३०४॥
भरुकच्छपुरेत्रासीद् भूपतिर्नरवाहनः।
ससमृद्धात्मकोपस्य श्रीमदप्यवमन्यते ॥ १ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"भरुकच्छ नगर में नरवाहन नाम का राजा राज्य कर रहा था, जिसके पास असंख्य धन और धन-रत्न से भरा राजकोष था। इधर प्रतिष्ठानपुर के शालिवाहन नरेश ने, जो कि सैन्यबलसंपन्न थे, भरुकच्छ-नरेश नरवाहन[1] को राजधानी में घेर लिया। किंतु लाखों वीरों की हानि उठाकर भी शालिवाहन नरेश भरुकच्छ जीत नहीं सके और अपने नगर में लौट आए। जब शालिवाहन भरु-

---

इतः प्रतिष्ठानपुरे पार्थिवः शालिवाहनः।
बलेनापि समृद्धः स रुरोध नरवाहनम् ॥ २ ॥
आनयत्यरिशीर्षाणि यस्तस्याऽऽदान्महर्धिकः।
लक्षं विलक्षं तत्तस्य नित्यं निघ्नन्ति तद्भटाः ॥ ३ ॥
हा तस्यापि भटाःऽक्रेप्या नित्युः सोदान्न किंचन।
सोऽथ क्षीणजनो नष्ट्वा पुनरेति समान्तरे ॥ ४ ॥
पुनर्नष्ट्वा तथैवैति नाभूद् तद् ग्रहणक्षमः।
अथैके मायया हालं सचिवो निरवास्यत ॥ ५ ॥
स परंपरया ज्ञासीद् भरुकच्छनराधिपः।
अपास्तोऽल्पापराधोऽपि निजामात्यस्ततः कृतः ॥ ६ ॥
ज्ञात्वा विध्वस्तं सोऽवक्तं राज्यं पुण्येन लभ्यते।
तदन्यस्य भवस्यार्थे पाथेयं कुरु पार्थिवः ॥ ७ ॥
धर्मस्थानविधानाद्यैर्द्रव्यपण्याय तत्ततः।
आगान्मंत्रिगिरा हालः पार्थिवोऽऽथाऽह मन्त्रिणम् ॥ ८ ॥
मिलितोऽसि किमस्यत्वं सो वदन्न मिलाम्यहम।
अथान्तःपुर भूपादि द्रविणैस्तं तदाक्षिपत् ॥ ९ ॥
हालेऽथ पुनरायाते निर्द्रव्यत्वान्ननाश सः।
नगरं जगृहे हालो द्रव्यप्रणधिरेषिका ॥ १० ॥

(१) डा० कोनो ने जैन-साहित्य के अनुसार इस नाम को (जो अब नहपान के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है) नहवाहन पढ़ा है। और डा० क्लाट अपनी पुस्तक (Historical records of the Jains in the Indian antiquary Volume VII Page 252) में उसे नहवान लिखते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कच्छ को बल से जीत नहीं सके तब उन्होंने नीति से काम लिया। अपने मंत्री "हाल" को, शक-राज पर छल-कपट का जाल फैलाने के लिये, निर्वासित कर दिया। प्रतिष्ठान से निर्वासित होकर मंत्री हाल ने भरुकच्छ-नरेश के यहाँ आश्रय पाया और नहपान को राज्य की रक्षा के लिये धर्म-कार्य करने का कपट-मंत्र दिया। उस काल में धर्म था बड़े बड़े बौद्ध-विहार बनवाना और भिक्षुओं को, जिनकी संख्या असंख्य हो गई थी, दान देना। मंत्री हाल की मंत्रणा से विदित होता है कि नहपान ने बौद्धधर्म ग्रहण कर अपना राजकोष खाली कर दिया। इसी से दूसरी बार जब शालिवाहन ने फिर भरुकच्छ का दूने बल से अवरोध किया, तब क्षीण-धन नहपान का नाश हो गया।"

नहपान का नाश और शालिवाहन (गौतमीपुत्र) का समय जैन-साहित्य से नहीं ज्ञात होता। धुरंधर विदेशी और देशी विद्वानों में भी नहपान के राज्य-काल पर मतैक्य नहीं है। पुराण और जैन-ग्रंथ दोनों में नहपान का शासन-काल चालीस वर्ष है। नहपान की मुद्रा में ४१ और ४२ का अंक खुदा है। अपने लंबे शासन-काल में नहपान ने जब अपने सिक्के ढलवाए तब उन पर प्रचलित संवत् का अंक लिखना भी आवश्यक था, उपर्युक्त अंक ४१-४२ को इतिहासज्ञ विद्वान् किसी संवत् का अंक तो मानते हैं लेकिन इन अंकों के लिये एक आदि शक-संवत् की कल्पना करते हैं। देशी और विदेशी विद्वानों का मत है कि "ईसा से लगभग सौ वर्ष पहले शकों ने भारत पर आक्रमण कर विजय पाया और संवत् प्रचलित किया जिसे आदि शक-संवत् कहते हैं।" इस कल्पित आदि शक-संवत् से विद्वानों में मतभेद की खाई दिन दिन गहरी होती चली जाती है और शुद्ध ऐतिहासिक सत्य छिपता चला जा रहा है। कल्पित आदि शक-संवत् पर विद्वानों के मत अग्रलिखित हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० आर० डी० बनर्जी	१०० बी० सी० (1908 1A Page-6)
सर जॉन मार्शल	९५ बी० सी० (JRAS 1914.986)
के० पी० जायसवाल	१४५ बी० सी० से १२० बी० सी०
प्रो० रैप्सन	१५० बी० सी० (1922 HIP-570)
डा० कोनो	८८ बी० सी० से ६० बी० सी०

उपर्युक्त विद्वानों के मत के अनुसार ईसा से लगभग सौ वर्ष पहले शकों ने भारत-विजय कर अपना संवत् चलाया। यह मत ऐतिहासिक दृष्टि से अमान्य है। ईसा से सौ वर्ष पहले तो पश्चिम भारत में यवनों के अनेक दृढ़ राज्य थे जिनके सिक्के मिलते हैं। यदि उस समय में १०० बी० सी० में शकों का आना मान भी लिया जाय, तब भी म्लेच्छों के चलाए संवत् को देशवासी विशेषकर ब्राह्मण कदापि न मानते। इसी से आदि शक-संवत् की कल्पना से प्राचीन भारत के इतिहास में गड़बड़ी बढ़ती ही जाती है। जिस समय शक नहपान ने गर्दभिल्ल को मारकर—मथुरा, उज्जयिनी और भरुकच्छ में राज्य स्थापित कर—अपने सिक्के ढलवाए उस समय उत्तर भारत में एक नवीन संवत्सर का प्रचार हो गया था। यह संवत् यज्ञ (शुंग-यज्ञ) से उत्पन्न होने से 'क्रत' संवत् के नाम से उत्तर भारत में माना जाता था। राजनीतिज्ञ नहपान ने जन-साधारण और ब्राह्मणों की सुविधा तथा सहानुभूति पाने के लिये अपनी मुद्राओं में प्रचलित देशी संवत् का अंक खुदवाया। इस अंक को क्रत संवत् ४७ बी० सी० मानने से नहपान को हम १६ बी० सी० में राज्य करते हुए पाते हैं। नहपान का आगमन विदिशा में शुंग-वंश के अंत में हुआ है। नहपान के भरुकच्छ राजधानी में रहने के कारण शुंग-नगरी विदिशा में भूतिनंदि[1] और शिशुनंदि शक सामंत शासक थे।

(१) भूतिनन्दि ततश्चापि विदिशे तु भविष्यति।
शुङ्गानं तु कुलस्यान्ते शिशुनन्दिर्भविष्यति॥ (मत्स्य०)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहपान की मुद्राओं में अंकित अंक के अतिरिक्त आचार्य नप-राच्छ-कृत पट्टावली गाथा और आचार्य जिनसेन-कृत हरिवंशपुराण में दी हुई वंशावलियों से भी नहपान का समय ईसवी सन् से १० वर्ष पहले ही निकलता है। हरिवंशपुराण का समय ७८३ ए० डी० माना जाता है। इन दोनों ग्रंथों में उज्जयिनी के राजाओं की वंशावली और उनका समय भी लिखा है। वंशावलियों में नरेशों का आरंभ पालक से किया गया है। पालक गौतम बुद्ध के समकालीन प्रद्योत[1] का पुत्र था, इससे पालक का और गौतम बुद्ध के निर्वाण का समय एक ही है। बुद्ध-निर्वाण-काल ४८५ बी० सी० इतिहास में निश्चित रूप से मान लिया गया है। जैन-ग्रंथों की वंशावली[2] के अनुसार पालक से नहपान तक ४८७ वर्ष होते हैं। इन

---

(१) प्रद्योतसंज्ञं राजानं कर्त्ता यत्पालकः सुतः।
विशाखयूपस्तत्पुत्रो भविता राजकस्ततः॥
नान्दवर्द्धन तत्पुत्रो पञ्च प्रद्योतना इमे॥ (श्रीमद्भागवत)

(२)

पट्टावली गाथा प्राकृत		हरिवंशपुराण	(जिनसेन-कृत)
नाम	राज्य-काल	नाम	राज्य-काल
पालक (प्रद्योत)	६० वर्ष	पालक	६० वर्ष
नंद	१५५ ,,	नंद	१५५ ,,
मौर्य	१०८ ,,	मौर्य	४० ,,
पुष्यमित्र	३० ,,	पुष्पमित्र	३० ,,
बालमित्र, भूमित्र	६० ,,	अग्निमित्र, वसुमित्र	६० ,,
नहवाहन शक	४० ,,	गर्दभिल्ल रासभ	१०० ,,
गर्दभिल्ल	१३ ,,	नरवाह	४२ ,,
शक	४ ,,	,,	,,
विक्रम	१८ ,,	,,	,,
	४८८		४८७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रमाणों से नहपान का राज्य और निधन सन् ईस्वी के कुछ पहले ही आता है।

गौतमीपुत्र का राज्य-काल पुराणों के अनुसार ३० वर्ष है। यह समय आंध्रशक्ति का मध्याह्न था। गौतमीपुत्र का ३० वर्ष राज्य आंध्र-साम्राज्य का स्वर्णयुग है। नहपान शक को जीतकर गौतमीपुत्र दक्षिण और पश्चिम भारत के अधिपति हो गए, तथा मौर्यों और महाप्रतापी शुंग सम्राटों की राजधानी पाटलिपुत्र में भी कण्व सम्राटों को राजसिंहासन से हटाकर, उत्तर और दक्षिण भारत के एकछत्र सम्राट् हो गए। पुराणों के अनुसार सुशर्मा कण्ववंश के अंतिम सम्राट् थे। वे आंध्र-भृत्य के हाथ से मारे गए। लेकिन गुणाढ्य से—जो सातवाहन के आश्रित और समकालीन थे, इसी से उनकी बात प्रामाणिक भी है—कुछ और ऐतिहासिक घटना ज्ञात होती है। कथासरित्सागर (ल० ७) में लिखा है कि कण्वसम्राट् सुशर्मा ने प्रतिष्ठान नगरी में एक आंध्र राजकुमार से अपनी कन्या को व्याह कर दहेज में पाटलिपुत्र का राजसिंहासन दे दिया। ज्ञात होता है कि कण्वसम्राट् आंध्र राजधानी में बंदी थे; वे मारे नहीं गए। सुशर्मा का अंत (V.A. Smith आदि) विद्वान् २७ बी० सी० मानते हैं। मगध पर आंध्रों का अधिकार एक तामिल पद्य-ग्रंथ से भी ज्ञात होता है। शुंग, आंध्र और कण्व सजातीय ब्राह्मण[1] थे, इससे कण्वसम्राट् सुशर्मा की कन्या से विवाह कर पाटलिपुत्र का सिंहासन प्राप्त कर सन् २७ बी० सी०

(१) नानाघाट शिलालेख में बालश्री गौतमी ने अपने पुत्र को ब्राह्मणों में श्रेष्ठ (एकब्राह्मणः) लिखा है। आंध्र-वंश का आंगिय गोत्र था। गोत्र-प्रवर संहिता मैसूर के अनुसार आंध्र सम्राट् भृगुगोत्री थे।

काण्वायनं ततो भृत्यः शुङ्गानं चैव यच्चपाम्।
क्षपित्वा तु बलीयान् सः शिशुकोऽन्ध्रः सजातियः॥ स्कंदपुराण, कुमारिका खंड।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में गौतमीपुत्र का भारत का एकछत्र सम्राट् हो जाना ऐतिहासिक सत्य है।

गौतमीपुत्र ने नहपान को मारकर, सन् ईसवी के १० वर्ष पहले, नहपान के सिक्कों पर अपना नाम खुदवा दिया। (Cad, p XXXI II)। मालवगण से मिलकर गौतमीपुत्र ने शकों को अवंति से भी मार भगाया। पूर्व राजपूताने में मिली बहुत सी मुद्राओं पर 'मालवानां जय', 'मालवजनस्य जय' खुदा है (Smith CIM page 170)। इन सिक्कों से विदित होता है कि शकों का अधिकार भरुकच्छ, उज्जयिनी और पूर्व राजपूताना से सन् ईसवी से कुछ ही वर्ष पहले जाता रहा। यद्यपि शक, म्लेच्छ अवंति में पराजित हो गए थे किंतु उनका समूल नाश भारत से नहीं हो गया था। सिंध, सौराष्ट्र, पंचनद और मथुरा में शकों को शरण मिल गई थी। पश्चिमोत्तर भारत में शकों की स्थिरता का यह कारण था कि सिंधु पार से शकों के नए दल बादल की तरह पार्थियन सम्राटों से युद्ध करते भारत में आ रहे थे। सम्राट् गौतमीपुत्र के जीवन में ही नए शकों के दल टोड़ीदल की तरह पंचनद देश में छा गए और सन् ईसवी के आरंभ के समय गौतमीपुत्र की मृत्यु के अनंतर शकों का अधिकार सौराष्ट्र और मथुरा तक हो गया। पुष्कर से भी आंध्रों के मुख्य सहायक मालव-क्षत्रियों को नहपान के दामाद उषवदत ने अपने मित्र उत्तमभद्रों की सहायता कर मार भगाया। गौतमीपुत्र के अनंतर ५ ए० डी० से आंध्र सम्राटों का युद्ध और विग्रह ७८ ए० डी० तक नए शकों से निरंतर होता रहा। गौतमीपुत्र के प्रपौत्र ११वें सातकर्णि 'हाल' ने नए शकों के अधिपति 'कुषाण' से मिलकर पार्थियन सम्राटों से सिंध देश छीनकर बाँट लिया। हाल का समय १७ ए० डी० निर्विवाद माना जा रहा है। इससे शकों के नए दल के अधिपति कुषाण का भी यही समय है जिससे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलकर हाल सातकर्णि ने सिंध से पार्थियन आतिशपरस्तों को मार भगाया।

अरबी इतिहास-ग्रंथ मजम्मुल उत्तवारीख में सिंधु देश का इतिहास लिखा है। विदित होता है कि मजम्मुल उत्तवारीख के निर्माण के समय देश में महाभारत की कथा प्रचलित थी, या अलबरूनी की तरह मजम्मुल० के कर्त्ता ने महाभारत या पुराण की कोई प्रति देख ली होगी। मजम्मुल० के अनुसार सिंध के शासकों की वंशावली इस प्रकार है—सिंध में भरतों का राज्य, शिशुनाग-वंश, हाल, सातवाहन, कपंद (काडफिस), अयंद (वीम) का राज्य, विक्रमादित्य (गुप्त)।

"सिंधु नदी के दोनों ओर रहनेवाले 'मेद' और जाटों ने सम्राट् दुर्योधन से प्रार्थना की कि सिंध देश के लिये एक राजा की आवश्यकता है। सम्राट् दुर्योधन ने प्रजा की प्रार्थना सुनकर, अपनी बहिन दुःशला को सिंध का राज्य दे दिया। कुछ समय के अनंतर सिंध से पौरवों का राज्य जाता रहा। पांडवों के राज्य-नाश का यह कारण था कि वे पहले के अपने पूर्वजों के समान धर्मात्मा नहीं रह गए, पापी हो गए और अधर्म से हस्तिनापुर में रहनेवाले एक ब्राह्मण की गऊ छीन लाए। इस पर ब्राह्मणों ने क्रुद्ध होकर, हस्तिनापुरी पर अधिकार कर, पांडवों को गाने-बजानेवाली[1] जाति बना दिया। ब्राह्मणों ने हस्तिनापुर में राज्य नहीं किया। अपने भृत्य शिशुनाग को हस्तिनापुरी का राजा बनाया।

शिशुनाग-वंश में १५ राजा हुए। शिशुनाग-वंश के शासन-काल में, फारस के बादशाह दारयवुश गुस्ताश्प के सेनापति बहमान ने सिंधु देश का कुछ भाग जीत लिया। पौरवों से शिशुनाग

(१) गाने-बजानेवाली जाति से अरबी लेखक का तात्पर्य ऋक्षराज, उदयन से है जो पुरुवंश में उत्पन्न थे और बड़े संगीत-प्रेमी थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

११७७२
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और शिशुनाग के वंशजों से बहमान ने सिंध का राज्य छीना। पारसी दारयवुश गुस्ताश्प के बाद हाल सिंध देश का बड़ा प्रतापी राजा हुआ। हाल जयद्रथ के पुत्र सँजबार के वंश में था। हाल नरेश ने अनेक सुंदर नगर बसाकर सिंध को अलंकृत किया। हाल के बाद सिंध पर काश्मीरी नरेश दीर्घकाल तक राज्य करते रहे। अंत में सिंध देश विदेशी कफंद के अधिकार में आया। कफंद न हिंदू था और न हिंदुस्तान का रहनेवाला था। कफंद ने अपनी वीरता से पूरा सिंध अपने वश में कर लिया। मजम्मुल० का लेखक कहता है कि कफस (काडफिस) का नाम क़ैद हिंदू है। क़ैद हिंदू सिंकदर के बाद हिंद में आया। सामीन क़ैद का भाई था। सामीन ने हिंद के राजा हाल से मिलकर पार्थियन आति-शपरस्तों के राजा "महरमजीद को मार भगाया। कफंद के बाद कफंद के लड़के अयंद ने हाल के न रहने से सिंध को चार हिस्सों में बाँट दिया। अयंद के बाद उसका पुत्र रासल सिंध का बाद-शाह हुआ। रासल को किसी प्रबल शत्रु ने राज्य के बाहर निकाल दिया।" (Elliot page 10)

हाल के अनंतर शक सम्राट् वीम के पुत्र रासल को सिंध से मार भगानेवाले आंध्र-वंश में सत्रहवें सातकर्णि हैं और उनकी विजय का समय ७८ ए० डी० है। हाल सातकर्णि (१७ ए० डी०) के अनंतर १७ ए० डी० से ७८ ए० डी० तक, सातवाहन-वंश की सात पीढ़ी साठ वर्ष में बीत गई। इन साठ वर्षों में नए शकों ने पश्चिमोत्तर भारत को पद-दलित कर डाला। नवागंतुक शक संख्या और बल में पहले शकों से अधिक थे। सम्राट्गण सिंधु के किनारे तक्षशिला में रहते थे और मथुरा इत्यादि में सम्राट् के अधीन सत्रप राज्य करते थे। ये सत्रप विशेषकर मथुरा के सत्रपों की अनेक मुद्राएँ मिली हैं। मथुरा के सत्रप बलिष्ठ होकर महासत्रप

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानस सरोवर और कैलास

(मनोरंजन पुस्तकमाला का ५२वाँ पुष्प)

बाबू सुशीलचंद्र भट्टाचार्य ने मानस सरोवर और कैलास की यात्रा करके वंग-भाषा में अपना यात्रा-विवरण प्रकाशित किया था। उसका यह हिंदी अनुवाद है। इसमें लेखक ने आठ पर्वों में अपने मार्ग का ब्योरेवार बड़ा सुंदर वर्णन दिया है जिससे यात्रा करने-वालों को मालूम हो जाता है कि कौन मार्ग कैसा है, कहाँ कौन सी वस्तुएँ पाई जाती हैं और किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यात्रियों के लिये तो यह पुस्तक पथप्रदर्शक का काम देती ही है; किंतु जिन्हें इस कठिन तीर्थ की यात्रा करने की सुविधाएँ प्राप्त नहीं हैं वे भी घर बैठे इस पुस्तक को पढ़कर ही मानस दृष्टि से उक्त मार्ग के सुंदर दृश्यों को देख सकते हैं। पुस्तक में बहुत से सादे और रंगीन चित्र हैं। पुस्तक के आरंभ में लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् पं० राम-चंद्र शुक्ल का लिखा हुआ 'परिचय' है। पृष्ठ-संख्या ३०० से ऊपर; सुंदर सजिल्द पुस्तक का मूल्य एक रुपया चार आने।

मिलने का पता—

मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जायसी-ग्रंथावली

अर्थात्

पदमावत, अखरावट और आखिरी कलाम

'जायसी-ग्रंथावली' से हिंदी-साहित्य-मर्मज्ञ पहले से ही भली भाँति परिचित हैं। उसी ग्रंथ का यह संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण है। इसमें कविवर जायसी की नई उपलब्ध पुस्तक 'आखिरी कलाम' भी टिप्पणियों सहित संयुक्त कर दी गई है। यह अंतिम पुस्तक अभी तक देवनागरी लिपि में कहीं मुद्रित नहीं हुई थी। इस संस्करण में 'जायसी का जीवन-वृत्त' भी नए रूप में दिया गया है। कहना नहीं होगा कि इस ग्रंथावली का पाठ, अवधी व्याकरण और उच्चारण तथा भाषा-विकास के अनुसार रखा जाने के कारण, बहुत ही प्रामाणिक है। यह संस्करण अपने ढंग का अद्वितीय है। इसकी उत्तमता के लिये इतना ही कहना काफी है कि इसका संपादन बनारस, हिंदू-विश्वविद्यालय के हिंदी-साहित्य के अध्यापक प्रसिद्ध आलोचक पं० रामचंद्र शुक्ल ने किया है। छपाई-सफाई भी बढ़िया है। डिमाई साईज के ७०० पृष्ठों की सजिल्द पुस्तक का मूल्य केवल सवा तीन रुपए।

मिलने का पता—

मंत्री, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

Printed by A. Bose, at the Indian Press, Ltd.,
Benares-Branch.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

यह पुस्तक वितरित न की जाए
NOT TO BE ISSUED

Com ical
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri